॥ श्रीः ॥

विदुरनीतिः

संस्कृत-हिन्दीटीकाभ्यां समेता

टीकाकार :-

व्या. आ. 'विद्यारत्न' पं० माधवप्रसाद व्यासः ।



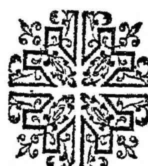
प्रकाशक-

भार्गवपुस्तकालय, गायघाट, बनारस १.

ब्राञ्च-कचौड़ीगली, बनारस ।

१९५२]  [मूल्य १)

प्रकाशक-
पं० कैलासनाथ भार्गव 'अमर'
अध्यक्ष-भार्गवपुस्तकालय, गायघाट,
बनारस १.
ब्रांच-कचौड़ीगली, काशी।



मुद्रक-
पं० बैकुण्ठनाथ भार्गव,
आनन्दसागर प्रेस, गायघाट,
बनारस १.

❀ श्रीः ❀

विदुरनीतिः

संस्कृत-हिन्दीटीकाभ्यां समेता ।

वैशम्पायन उवाच—

द्वाःस्थं प्राह महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
विदुरं द्रष्टुमिच्छामि तमिहानय मा चिरम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर के भेजे हुये सञ्जय ने धृतराष्ट्र के पास आकर कहा कि पाण्डव जीवित हैं उनकी उपेक्षा करना उचित नहीं है। इस सम्बन्ध में बहुत ऊँची नीची बात कही उस समय धृतराष्ट्र ने सञ्जय से कहा कि आपकी बात कल सभा के बीच में सुनी जायगी। यह कह कर उसे बिदा किया। परन्तु धृतराष्ट्र को रात्रि में निद्रा तक नहीं आई। यद्यपि कर्णादिकों के सामने विदुर की सभा में प्रधानता नहीं रह गई थी फिर भी प्रातःकाल होते ही परामर्श के लिये विदुर का स्मरण करते हुये बोलाने के निमित्त धृतराष्ट्र ने द्वारपाल से कहा। इसी बात को राजा जनमेजय के प्रति वैशम्पायन कह रहे हैं।

वैशम्पायन जी बोले—महाबुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र ने द्वारपाल से कहा कि मैं विदुर को देखना चाहता हूँ उनको शीघ्र यहाँ ले आओ ॥ १ ॥

प्रहितो धृतराष्ट्रेण दूतः क्षत्तारमब्रवीत्।
ईश्वरस्त्वां महाराजो महाप्राज्ञ ! दिदृक्षति ॥ २ ॥

इस प्रकार धृतराष्ट्र का भेजा हुआ द्वारपाल आकर विदुर जी से बोला। हे महाबुद्धिमान् विदुर जी! आपको समर्थ महाराज धृतराष्ट्र जी देखना चाहते हैं ॥ २ ॥

एवमुक्तस्तु विदुरः प्राप्य राजनिवेशनम्।
अब्रवीद्धृतराष्ट्राय द्वाःस्थं मां प्रति वेदय ॥ ३ ॥

इस प्रकार दूत के वचन से विदुर जी ने राजभवन को आकर द्वारपाल से कहा कि हे द्वारपाल! मेरा यहाँ पर आना धृतराष्ट्र से कहो ॥ ३ ॥

द्वाःस्थ उवाच—

विदुरोऽयमनुप्राप्तो राजेन्द्र ! तव शासनात्।
द्रष्टुमिच्छति ते पादौ किं करोतु प्रशाधि माम् ॥ ४ ॥

द्वारपाल ने जाकर कहा—हे राजेन्द्र! आपकी आज्ञानुसार विदुर जी द्वारपर आकर खड़े हैं और आपके चरणों को देखना चाहते हैं। वह क्या करें, इस विषय में आप मुझे आज्ञा दीजिये ॥४॥

धृतराष्ट्र उवाच—

प्रवेशय महाप्रज्ञं विदुरं दीर्घदर्शिनम्।
अहं हि विदुरस्यास्य नाकल्पो जातु दर्शने ॥ ५ ॥

अकल्पो न किन्तु कल्पः समर्थ एव, सर्वदा विदुरसंदर्शनं मम अप्रत्याख्येयमित्यर्थः। जातु कदाचित् ॥ ५ ॥

धृतराष्ट्र बोले—दूरदर्शी, परमबुद्धिमान् विदुर जी को ले आओ। मैं इन विदुर जी के दर्शन के लिये कभी असमर्थ नहीं हूँ अर्थात् सर्वथा दर्शन कर सकता हूँ ॥ ५ ॥

द्वाःस्थ उवाच—

प्रविशान्तःपुरं क्षत्तर्महाराजस्य धीमतः ।
नहि ते दर्शनेऽकल्पो जातु राजाऽब्रवीद्धि माम् ॥६॥

द्वारपाल आकर विदुर जी से बोला—हे विदुर जी! बुद्धिमान् महाराज धृतराष्ट्र के अन्तःपुर में चलिये। आपके दर्शन के लिये महाराज कभी असमर्थ नहीं हैं, यह महाराज ने मुझसे कहा है ॥६॥

वैशम्पायन उवाच—

ततः प्रविश्य विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम् ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं चिन्तयानं नराधिपम् ॥७॥

वैशम्पायन जी जनमेजय से बोले—तब विदुर जी धृतराष्ट्र के अन्तःपुर में जाकर चिन्तित नराधिप धृतराष्ट्र से हाथ जोड़कर इस प्रकार वचन बोले ॥ ७ ॥

विदुरोऽहं महाप्राज्ञ! सम्प्राप्तस्तव शासनात् ।
यदि किञ्चन कर्तव्यमयमस्मि प्रशाधि माम् ॥८॥

हे महाप्राज्ञ (महाबुद्धिमान्)! यह मैं विदुर आपकी आज्ञा से आ गया हूँ। यदि कोई कार्य हो तो मैं उपस्थित हूँ। आप आज्ञा दीजिये ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

सञ्जयो विदुर! प्राप्तो गर्हयित्वा च मां गतः ।
अजातशत्रोः श्वो वाक्यं सभामध्ये स वक्ष्यति ॥९॥

धृतराष्ट्र बोले—हे विदुर ! बुद्धिमान् सञ्जय मेरी निन्दाकर इस समय चले गये हैं, और कल सभा के बीच में अजातशत्रु (युधिष्ठिर) के वचन को कहेंगे ॥ ९ ॥

तस्याद्य कुरुवीरस्य न विज्ञातं वचो मया ।
तन्मे दहति गात्राणि तदकार्षीत्प्रजागरम् ॥१०॥

उस कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर के वचन को अभी तक मैंने नहीं समझा अर्थात् मेरे समझ में नहीं आये। इस लिये मेरे शरीर को जला रहे हैं और नींद भी नहीं आई ॥ १० ॥

जाग्रतो दह्यमानस्य श्रेयो यदनुपश्यसि ।
तद्ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि ॥ ११ ॥

जलते हुए निद्राहीन मेरे हित के लिये जो तुम समझते हो, हे तात ! उसको तुम कहो । क्योंकि तुम धर्म और अर्थ शास्त्र में प्रवीण हो ॥ ११ ॥

यतः प्राप्तः सञ्जयः पाण्डवेभ्यो
न मे यथावन्मनसः प्रशान्तिः ।
सर्वेन्द्रियाण्यप्रकृतिं गतानि
किं वक्ष्यतीत्येव मेऽद्य प्रचिन्ता ॥ १२ ॥

पाण्डवों के भेजे हुए सञ्जय जिस समय आये उस समय से मेरे मन को उचित शान्ति नहीं है। मेरी सभी इन्द्रियाँ स्वभाव से हीन हो गई हैं अर्थात् अपने अपने कार्य से विमुख हो गई हैं और मुझे यही चिन्ता है कि आज सञ्जय क्या कहेंगे ॥ १२ ॥

प्रजागरं निद्राया अभावम् ॥ १० ॥ अतः यदा प्राप्तः सञ्जयस्तदारभ्येत्यर्थः । प्रचिन्ता प्रकृष्टा चिन्ता ॥ १२ ॥

पण्डित (सत् असत् विवेचनी) बुद्धि वाले मनुष्य शक्ति के अनुसार कार्य करने की इच्छा करते हैं और शक्ति के अनुसार कार्य को करते हैं तथा किसी का अपमान नहीं करते हैं ॥ २६ ॥

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासम्पृष्टो व्युपयुङ्क्ते परार्थे तत्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥२७॥

जो दूसरे के वाक्य को सुनकर शीघ्र जान लेता है और ज्ञान की दृढ़ता के लिये अधिक समय तक सुनता है तथा जानकर अर्थ (कार्य) का सेवन करता है न कि काम से सेवन करता है और विना विशेष रूप से पूछे दूसरे के लिये ,वाक्य का प्रयोग नहीं करता है, ये सब पण्डित के प्रथम (मुख्य) चिह्न कहे जाते हैं ॥ २७ ॥

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥ २८ ॥

पण्डित-प्रज्ञा वाले अप्राप्य वस्तु की इच्छा नहीं करते हैं और नष्ट वस्तु का शोच नहीं करते हैं तथा आपत्ति में मोह को नहीं प्राप्त होते हैं ॥ २८ ॥

निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते ॥ २९ ॥

जो स्वशक्ति का निश्चय कर कार्य को करता है और कर्म को विना समाप्त किये विराम नहीं लेता है तथा हमेशा प्रयोजन को

चिरं शृणोति ज्ञानदार्ढ्याय। असंपृष्टः यथावदपृष्टः। व्युपयुङ्क्ते वाग्व्ययं करोति। परार्थे विषये प्रज्ञानं चिह्नम् ॥ २७ ॥ निश्चित्य स्वयत्न-साध्यत्वम्। कर्मणः अन्तर्मध्ये न वसति नोपरमते किन्तु समापयत्येव। अवन्ध्यकालः सर्वदा सप्रयोजनमेव कर्म आचरन् ॥ २९ ॥

रखकर ही कार्य को करता है और वश्यात्मा (जितेन्द्रिय) है वह पण्डित कहा जाता है ॥ २९ ॥

आर्यकर्मणि रज्यन्ते भूतिकर्माणि कुर्वते ।
हितं च नाभ्यसूयन्ति पण्डिता भरतर्षभ ॥ ३० ॥

हे भरतर्षभ ! पण्डित लोग शिष्टों के कार्य में प्रेम करते हैं और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये कर्म को करते हैं तथा हित करने वाले की निन्दा नहीं करते हैं ॥३०॥

न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमाने न तप्यते ।
गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते ॥३१॥

जो अपने सम्मान में हर्षित और अपमान में सन्तप्त नहीं होता है किन्तु गाङ्ग ह्रद के समान चलायमान नहीं होता है वह पण्डित कहा जाता है ॥ ३१ ॥

तत्त्वज्ञः सर्वभूतानां योगज्ञः सर्वकर्मणाम् ।
उपायज्ञो मनुष्याणां नरः पण्डित उच्यते ॥३२॥

जो समस्त भूत (जात) ऐश्वर्य आदि के विनाशित्व रूप तत्त्व को जानता है और समस्त कार्यों के योग (रचना प्रकार) का जानता है तथा मनुष्यों के उपाय (अपेक्षित सामग्री) को जानता है वह मनुष्य पण्डित कहा जाता है ॥३२॥

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् ।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥३३॥

आर्याः शिष्टाः तद्योग्यकर्मणि।भूतिः ऐश्वर्यं तत्प्राप्त्यर्थं कर्माणि ॥३०॥ तत्त्वं विनाशित्वम् । भूतानां जातानां ऐश्वर्यादीनाम् । योगो रचनाप्रकारः । उपायः तदर्थसामग्री । मनुष्याणां मध्ये स नरः पण्डितः ॥३२॥ प्रवृत्तवाक् अकुण्ठितवचनः । चित्रकथः लोककथाभिज्ञः । ऊहः तर्कः । प्रतिभानं तत्कालस्फूर्तिः ॥३३॥

जो बात कहने में अकुण्ठित (विना रोक टोक बोलनेवाला) हो; चित्र विचित्र कथाओं को कहे, तर्क करे, प्रतिभा वाला (तत्काल ही में ठीक उत्तर देने वाला) हो, शीघ्रही शास्त्रों के मतलब को कहने वाला हो वह पण्डित कहा जाता है ॥ ३३ ॥

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।
असम्भिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ॥३४॥

जिसका शास्त्र बुद्धि के अनुसार हो और बुद्धि शास्त्र के अनुसार हो, और जो शिष्टों की मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं किया हो उसे पण्डित कहते हैं ॥ ३४ ॥

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः ।
अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥३५॥

जो शास्त्रों को विना पढ़े हुए गर्व वाला हो, दरिद्र होकर बड़ी चाहना करने वाला हो और विना काम किये ही धन चाहता हो उसे पण्डितों ने मूर्ख कहा है ॥३५॥

स्वमर्थं यः परित्यज्य परार्थमनुतिष्ठति ।
मिथ्याऽऽचरति मित्रार्थे यश्च मूढः स उच्यते ॥३६॥

जो अपने काम को छोड़कर दूसरे के काम को करता है, मित्र के लिये झूठा व्यवहार करता है उसे मूर्ख कहते हैं ॥ ३६ ॥

अकामान्कामयति यः कामयानान्परित्यजेत् ।
बलवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३७ ॥

प्रज्ञानुगं बुद्धिवश्यम् । श्रुतानुगा शास्त्रानुसारिणी ॥३४॥ अकर्मणा हीनकर्मणा द्यूतादिना इत्यर्थः । तादृशो दुर्योधनः ॥३५॥ स्वमर्थमिति तादृशः शकुनिः ॥३६ । अकामान् त्वयि भक्तिहीनान् कर्णादीन् । कामयानान् त्वयि भक्तिमतः पाण्डवान् ।

जो नहीं चाहनेवालों को चाहता है और चाहनेवालों को छोड़ता है तथा बलवान् से वैर करता है उसे मूर्ख कहते हैं ॥ ३७ ॥

अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च ।
कर्म चारभते दुष्टं तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३८ ॥

जो शत्रुओं से मित्रता करता है, मित्रों से द्वेष करता है और उनकी हिंसा (किसी प्रकार से बुराई) करता है तथा बुरे २ कामों का आरम्भ करता है, उसे मूर्ख कहते हैं ॥ ३८ ॥

संसारयति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते ।
चिरं करोति क्षिप्रार्थे स मूढो भरतर्षभ ॥ ३९ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! जो कामों को व्यर्थ में ही फैलाता है, सब जगह संशय करता है और जल्द हो जाने वाले कामों में भी देर करता है, उसे मूर्ख कहते हैं ॥ ३९ ॥

श्राद्धं पितृभ्यो न ददाति दैवतानि न चार्चति ।
सुहृन्मित्रं न लभते तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ४० ॥

जो पितरों का श्राद्ध नहीं करता है, देवताओं की पूजा नहीं करता है और अच्छे स्वभाव वालों को मित्र नहीं बनाता है उसे मूर्ख कहते हैं ॥ ४० ॥

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥ ४१ ॥

जो विना बुलाये जाता है, विना पूछे बहुत बोलता है और अविश्वासी का विश्वास करता है, उस नराधम को मूर्ख कहते हैं ॥४१॥

बलवन्तं युधिष्ठिरम् ॥ ३७ ॥ दुष्टं जतुगृहदाहादि ॥ ३८ ॥ संसारयति भृत्यादिद्वारा प्रवर्तयति ॥ ३९ ॥

विदुर उवाच—

अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम् ।
हृतस्वं कामिनं चोरमाविशन्ति प्रजागराः ॥ १३ ॥

विदुर जी बोले—साधन हीन और दुर्बल होने के कारण बलवान् से दबाया हुआ, और धन के चोरी हो जाने पर तथा कामी और चोर इन चार प्राणियों को नींद नहीं आती है ॥ १३ ॥

कच्चिदेतैर्महादोषैर्न स्पृष्टोऽसि नराधिप ।
कच्चिच्च परवित्तेषु गृध्यन्न परितप्यसे ॥ १४ ॥

हे नराधिप ! क्या आप ऊपर कहे हुए महादोषों से स्पर्श तो नहीं किये गये ? अर्थात् इन दोषों ने आपको ग्रसित तो नहीं किया ? अथवा दूसरे के धन की लालसा करके दुःखित तो नहीं हो रहे हैं ॥१४॥

धृतराष्ट्र उवाच—

श्रोतुमिच्छामि ते धर्म्यं परं नैःश्रेयसं वचः ।
अस्मिन् राजर्षिवंशे हि त्वमेकः प्राज्ञसम्मतः ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्र बोले—मैं आपके धर्मयुक्त एवं परम हितकारी वचनों को सुनना चाहता हूँ। क्योंकि इस राजर्षिवंश में केवल आपही विद्वानों के आदरणीय हैं ॥ १५ ॥

विदुर उवाच-

राजलक्षणसम्पन्नस्त्रैलोक्यस्याधिपो भवेत् ।
प्रेष्यस्ते प्रेषितश्चैव धृतराष्ट्र ! युधिष्ठिरः ॥ १६ ॥

अभियुक्तमित्यर्द्धोपात्त एकः, त्रयोऽन्ये च प्रजागरावेशभाजनानि ॥ १३ ॥ गृद्धयन् लिप्सावान् ॥ १४ ॥ क्वचित्पुस्तकान्तरे स्थितस्य मूलस्य टिप्पणम् । प्रेष्यः प्रकर्षेण एषणीयः प्रार्थ्य इति यावत् । ते त्वया प्रेषितो वनमिति शेषः॥१६॥

विदुर जी बोले—हे धृतराष्ट्र ! राज-लक्षणों से सम्पन्न और तीनों लोक का स्वामी बनने योग्य तथा आपका प्रेष्य (सेवक) युधिष्ठिर है उसको आपने अपने यहाँ से निकाल दिया है ॥ १६ ॥

विपरीततरश्च त्वं भागधेयेन सम्मतः ॥
अर्चिषां प्रक्षयाच्चैव धर्मात्मा धर्मकोविदः ॥ १७ ॥

धर्मात्मा तथा धर्मवेत्ता होते हुये भी आप इस राज्य-भाग के विषय में राज-लक्षणों से हीन और नेत्र-ज्योति से रहित होने के कारण सभों के द्वेष्य हैं ॥ १७ ॥

आनृशंस्यादनुक्रोशाद्धर्मात्सत्यात्पराक्रमात् ।
गुरुत्वात्त्वयि सम्प्रेक्ष्य बहून् क्लेशांस्तितिक्षते ॥ १८ ॥

और वह युधिष्ठिर क्रूरता के न होने से, दयालुता के होने से, धर्म, सत्य, पराक्रम-युक्त होने से और आपमें गुरु-भाव को देखकर बहुत क्लेशों को सह रहे हैं ॥ १८ ॥

दुर्योधने सौबले च कर्णे दुःशासने तथा ।
एतेष्वैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ॥ १९ ॥

इन दुर्योधन, सौबल, कर्ण, दुःशासन को राज्य का भार देकर अर्थात् इनके अधीन होकर तुम कैसे ऐश्वर्य की इच्छा करते हो ? ॥१९॥

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ २० ॥

विपरीतः राजलक्षणहीनः सर्वेषां द्वेष्यः भागधेये राज्यांशे अर्चिषां नेत्ररश्मीनां प्रक्षयात् न सम्मतः त्वं धर्मात्माऽपि सन् इति उपहासः । अथवा भागधेयेन राजभागित्वेन हेतुनाऽपि सम्मतः, इत्युपहास एव ॥१७॥ आनृशंस्यात् क्रूरत्वाभावात् । अनुक्रोशात् दयालुत्वात् तितिक्षते युधिष्ठिर इति शेषः॥१८॥ एतेष्विति एतेषामधीनो भूत्वा इत्यर्थः ॥ १९॥ एतेषु पाण्डित्यं नास्तीति वक्तुं पण्डितलक्षण-

इन दुर्योधनादिकों में पाण्डित्य नहीं है इस लिये पण्डित के लक्षणों को कहना आरम्भ किया—शास्त्रानुकूल आत्मज्ञान, शक्ति के अनुकूल कार्यारम्भ, वैराग्य के अनुकूल सहनशील, और श्रद्धा के अनुकूल धर्म में दृढ़ता, ये सब उचित रूप से सेवित न होने से मूढ़ पुरुषों को पुरुषार्थ से गिरा देते हैं। जिनको पुरुषार्थ से नहीं गिराते हैं। उनको पण्डित कहते हैं॥ २०॥

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते।

अनास्तिकः श्रद्दधान एतत्पण्डितलक्षणम्॥ २१॥

जो श्रेष्ठ कार्यों को करता है, निन्दित कार्यों का त्याग करता है, अनास्तिक (परलोक आदि का ज्ञाता) है और श्रद्धा, गुरु, देव-वाक्य आदिकों के फल में विश्वास करता है, ये सब पण्डित के लक्षण हैं॥ २१॥

क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीस्तम्भो मान्यमानिता।

यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते॥ २२॥

क्रोध, हर्ष, दर्प (दूसरे का अपमान), लज्जा, स्तम्भ (नम्र न होना), मान्यमानिता (अपने में पूज्य भावना अर्थात् मैं पूज्य हूँ) ये सब जिनको पुरुषार्थ से नहीं गिराते हैं वह पण्डित कहा जाता है॥ २२॥

न्याह आत्मज्ञानमित्यादिना। आत्मज्ञानं शास्त्रीयापेक्षम्। समारम्भः शक्त्यपेक्षः। तितिक्षा वैराग्यापेक्षा। धर्मनित्यता श्रद्धापेक्षा। एतानि अयथाभूतानि मूढान् पुरुषार्थात् भ्रंशयन्ति न तु पण्डितानित्यर्थः॥२०॥ अनास्तिकः परलोकाद्यस्तीति जानन्। श्रद्दधानः— श्रद्धा गुरुवेदवाक्यादिषु फलावश्यंभावनिश्चयः तद्वान्॥ २१॥ दर्पः परावज्ञानम्। स्तम्भः असन्नतिः। मान्यमानिता मान्यं मानार्ह

यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्रं वा मन्त्रितं परे।
कृतमेवास्य जानन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ २३ ॥

जिसके कार्य को वा सलाह को वा निश्चित विचार को दूसरे लोग नहीं जानते हैं किन्तु कार्य सिद्ध होने पर ही अन्य लोग जानते हैं वह पण्डित कहा जाता है ॥२३॥

यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते ॥ २४ ॥

जिसके कार्य में शीत, उष्ण, भय, रति, समृद्धि और असमृद्धि य विघ्न नहीं करते हैं। वह पण्डित कहा जाता है ॥ २४ ॥

यस्य संसारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्तते।
कामादर्थं वृणीते यः स वै पण्डित उच्यते ॥२५॥

जिसकी सांसारिक (इस लोक के सुख को चाहने वाली) बुद्धि दोनों लोक के सुख देने वाले, धर्म और अर्थ का अनुसरण करती है। (इससे धर्म अर्थ की अपेक्षा काम को निकृष्ट सूचित किया)। जो काम को त्याग कर अर्थ को चाहता है वह अर्थार्थी अर्थात् मोक्ष के द्वारा समस्त अर्थ को प्राप्त करने वाले जनकादि के तुल्य है, अतः वह पण्डित कहा जाता है ॥ २५ ॥

यथाशक्ति चिकीर्षन्ति यथाशक्ति च कुर्वते।
न किञ्चिदवमन्यन्ते नराः पण्डितबुद्धयः ॥ २६ ॥

आत्मानं मन्यते इति मान्यमानी तस्य भावस्तत्ता ॥२२॥ संसारिणी स्वभावतोऽनवस्थिताऽपि। कामात् ऐहिकसुखात्। उभयलोकसुखावहं धर्मं अर्थं वृणीते स पण्डितः। कामो धर्मार्थापेक्षया। निकृष्ट इत्यर्थः। कामादिति यस्तु कामं त्यक्त्वा अर्थं वृणीते स अर्थार्थी मोक्षादेव सर्वं अर्थं विन्दति ज्ञानफले मोक्षे कृत्स्नस्यार्थस्यान्तर्भावात्। स जनकादितुल्यः अतः पण्डित उच्यते ॥ २५ ॥

परं क्षिपति दोषेण वर्तमानः स्वयं तथा ।
यश्च क्रुध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः ॥ ४२ ॥

जो स्वयं दोषयुक्त होकर भी दूसरे को दोषी बतलाता है और जो शक्ति नहीं रहने पर भी क्रोध करता है, वही मनुष्य महामूर्ख है ॥४२॥

आत्मनो बलमज्ञाय धर्मार्थपरिवर्जितम् ।
अलभ्यमिच्छन्नैष्कर्म्यान्मूढबुद्धिरिहोच्यते ॥ ४३ ॥

जो अपने पराक्रम को विना समझे ही धर्म और अर्थ से रहित अलभ्य वस्तु को विना कर्म किये ही पाना चाहता है, उसे ही मूर्ख-बुद्धि कहते हैं ॥ ४३ ॥

अशिष्यं शास्ति यो राजन् यश्च शून्यमुपासते ।
कदर्यं भजते यश्च तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ४४ ॥

जो शिक्षा नहीं देने योग्य शिष्य को शिक्षा देता है, जिससे कुछ लाभ नहीं है ऐसे मनुष्य की जो सेवा करता है, और जो कायर का भजन करता है उसे मूर्ख-बुद्धि कहते हैं ॥ ४४ ॥

अर्थं महान्तमासाद्य विद्यामैश्वर्यमेव वा ।
विचरत्यसमुन्नद्धो यः स पण्डित उच्यते ॥ ४५ ॥

जो बहुत धन, विद्या और ऐश्वर्य को पाकर भी उद्धत नहीं होता उसे पण्डित कहते हैं ॥ ४५ ॥

एकः सम्पन्नमश्नाति वस्ते वासश्च शोभनम् ।
योऽसंविभज्य भृत्येभ्यः को नृशंसतरस्ततः ॥ ४६ ॥

नैष्कर्म्यात् अयत्नतः ॥ ४३ ॥ शून्यं राजदारादीन् अज्ञातं यथा स्यात्तथा उपासते । कदर्यं अदातारम् ॥ ४४ ॥ असमुन्नद्धः अनुद्धतः ॥ ४५ ॥

जो नोकर इत्यादि परिजनों को विना बाँटे अकेले ही अच्छे २ भोजनों को खाता है और सुन्दर २ कपड़ों को पहनता है, उससे अधिक क्रूर दूसरा कौन है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ ४६ ॥

एकः पापानि कुरुते फलं भुंक्ते महाजनः ।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते ॥ ४७ ॥

एक ही आदमी पाप को करता है और बहुत लोग उसको भोगते हैं, किन्तु भोग करनेवाले पापों से छूट जाते हैं और करने वाला ही उसका भागी होता है ॥ ४७ ॥

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता ।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद्राष्ट्रं सराजकम् ॥ ४८ ॥

धनुष-धारी मनुष्य का छोडा हुआ बाण एक को मारता है या नहीं भी मारता; किन्तु बुद्धिमानों की छोड़ी हुई बुद्धि अर्थात् लगाई हुई युक्ति राजाओं के सहित राज्य को नष्ट कर देती है ॥ ४८ ॥

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु ।
पञ्च जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव ॥ ४९ ॥

एकयेति बुद्धिर्बुद्धिमतेत्युपक्रमादेकया बुद्ध्येति व्याख्याद्वयेऽपि समानम् । द्वे नीतौ कार्याकार्ये । अध्यात्मपक्षे नित्यानित्ये विनिश्चित्य सम्यगवधार्य । त्रीन् नीतौ मित्रौदासीनशत्रून् । पक्षे कामक्रोधलोभान् । चतुर्भिः सामदानभेददण्डैः । मित्रं साम्नैव, दानभेदाभ्यां उदासीनं, सर्वैः शत्रुं वशीकुरु । पक्षे शमदमोपरम-श्रद्धाभिः । पञ्च पक्षद्वयेऽपि इन्द्रियाणि जित्वा । षड् विदित्वा सन्धिविग्रहादीन् ज्ञात्वा । पक्षे अशनायां पिपासां शोकं मोहं जरां मृत्युं च । सप्त हित्वा— स्त्रियोऽक्षा मृगयां पानं वाक्पारुष्यं च पञ्चमम् ॥ महच्च दण्डपारुष्यमर्थ-

एक बुद्धि से कर्तव्य और अकर्तव्य इन दोनों को निश्चय (ज्ञान) कर साम, दान, दण्ड और विभेद इन चारों से शत्रु, मित्र और उदासीन इन तीनों को वश में करो। पांचों इन्द्रियों का जीत कर सन्धि, विग्रह, दान, आसन, आश्रय और द्वैधीभाव इन छवों को जानकर और परस्त्री-गमन, जुवा खेलना, शिकार खेलना, मद पीना, कटु वचन बोलना, अपराध से अधिक दण्ड देना और बुरे कामों में धन का खर्चना। इन सातों को छोड़ कर सुखी होवो॥ ४९॥

एकं विषरसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते।
सराष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं मन्त्रविस्रवः॥ ५०॥

विष सिर्फ खाने वाले को ही मारता है, हथियार से एकही मारा जाता है; किन्तु सलाह का गुप्त न रखना ही राज्य और प्रजा के सहित राजा का नाश करता है॥ ५०॥

एकः स्वादु न भुञ्जीत एकश्चार्थान्न चिन्तयेत्।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात्॥ ५१॥

स्वादिष्ट भोजन अकेले नहीं खाना चाहिये, बहुत विषयों का विचार अकेले नहीं करना चाहिये, रास्ता में अकेले नहीं चलना चाहिये और बहुतों के सोते रहने पर अकेले जागना नहीं चाहिये॥५१॥

एकमेवाद्वितीयं तद्यद्राजन्नावबुध्यसे।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव॥ ५२॥

दूषणमेव च॥ १॥' इति सप्त हेयानि। पक्षे पञ्चेन्द्रियाणि बुद्धिमनसी च त्यक्त्वा सुखी भव। तथा च श्रुतिः—'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह॥ बुद्धिश्च न विचेष्टेत तमाहुः परमां गतिम्॥ १॥' इति। पूर्वं इन्द्रियाणां प्रत्याहार उक्तः। इदानीं तु प्रविलापनमिति भेदः॥ ४९॥ सत्यं यथार्थभाषणं स्वर्गस्य। पक्षे सत्यं ब्रह्म स्वर्गो मोक्षः। पारावारस्य समुद्रस्य॥ ५२॥

धृतराष्ट्र से विदुर जी कहते हैं कि—हे राजन्! समुद्र पार होने के लिये नाव के समान स्वर्ग जाने के लिये सीढ़ी केवल सत्य ही है दूसरा कुछ नहीं, उसको तुम नहीं जानते हो ॥ ५२ ॥

एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते ।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ ५३ ॥

"क्षमा करने वाले मनुष्य को लोग असमर्थ समझते हैं" एक यही दोष क्षमा करने वालों में सिद्ध होता है, दूसरा नहीं ॥ ५३ ॥

सोऽस्य दोषो न मन्तव्यः क्षमा हि परमं बलम् ।
क्षमागुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ॥ ५४ ॥

उसको क्षमा करने वालों का दोष नहीं समझना चाहिये, क्योंकि—क्षमा बड़ा भारी बल है। और निर्बल लोगों के लिये क्षमा गुण है तथा समर्थवालों के लिये क्षमा भूषण है ॥ ५४ ॥

क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते ।
शान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः ॥ ५५ ॥

संसार में क्षमा वशीकरण है, क्षमा से क्या सिद्ध नहीं होता। अर्थात् सब कुछ हो सकता है; जिसके हाथ में क्षमारूपी तलवार है, उसका दुर्जन क्या कर सकता है? अर्थात् कुछ नहीं ॥ ५५ ॥

अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ।
अक्षमावान्परं दोषैरात्मानं चैव योजयेत् ॥ ५६ ॥

जहाँ तृण आदि नहीं है, वहाँ गिरी हुई आग स्वयं बुझ जाती है (वैसे ही क्षमायुक्त आदमी के पास आया हुआ दुर्जन भी शान्त हो जाता है) और क्षमा रहित आदमी श्रेष्ठ आत्मा को दोषों से युक्त कर देता है (जैसे कि-तृण में गिरी हुई थोड़ी भी अग्नि बहुत बढ़ जाती है) ॥ ५६ ॥

एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा ।
विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा ॥ ५७ ॥

एक धर्म ग्रहण करना अत्यन्त कल्याण करने वाला है, क्षमा करना ही परम शान्तिदायक है, एक विद्या ही अत्यन्त तृप्तिकारक है और एक अहिंसा (किसी प्राणी को किसी तरह दुःख नहीं देना) ही अत्यन्त सुखदायी है ॥ ५७ ॥

द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ ५८ ॥

वैरियों के साथ विरोध नहीं करनेवाले राजा और परदेश में नहीं रहने वाले ब्राह्मण इन दोनों को पृथ्वी वैसे नष्ट कर देती है, जैसे बिल के पास सोने वाले को सांप डंसकर नष्ट कर देता है ॥ ५८ ॥

द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्नस्मिंल्लोके विरोचते ।
अब्रुवन् परुषं किञ्चिदसतोऽनर्चयंस्तथा ॥ ५९ ॥

किसी से कुछ भी कटु वचन नहीं बोलता हुआ और दुष्टों का सत्कार नहीं करता हुआ ये दोनों काम करता हुआ मनुष्य इस लोक में अत्यन्त प्रिय होता है ॥ ५९ ॥

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र ! परप्रत्ययकारिणौ ।
स्त्रियः कामितकामिन्यो लोकः पूजितपूजकः ॥ ६० ॥

हे पुरुषव्याघ्र ! अन्य के चाहने वाले की इच्छा करने वाली स्त्री और सबसे मान्य को मानने वाला इन्हीं दोनों पर दूसरों को विश्वास होता है ॥ ६० ॥

अहिंसेति—पुत्राणां विग्रहेण कुलक्षयं मा कुरु, इति भावः ॥ ५७ ॥ द्वावित्यादिषु किञ्चित्प्रकृतोपयोग्युच्यते, किञ्चित्प्रसङ्गात् दृष्टान्तार्थं च इति ज्ञेयम् ॥५८॥ असतः शकुन्यादीन् त्वमर्चयसीति भावः ॥५९॥ पूजितेति—पुत्रेण पूजितं कर्णं त्वमपि पूजयसीत्यर्थः ॥६०॥

द्वाविमौ कण्टकौ तीक्ष्णौ शरीरपरिशोषिणौ ।
यश्चाधनः कामयते यश्च कुप्यत्यनीश्वरः ॥ ६१ ॥

निर्धन होकर बड़ी २ चाहना करने वाला और असमर्थ होकर क्रोध करने वाला ये दोनों शरीर को सुखाने वाले और तीक्ष्ण काँटे की तरह हैं ॥ ६१ ॥

द्वावेव न विराजेते विपरीतेन कर्मणा ।
गृहस्थश्च निरारम्भः कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥ ६२ ॥

गृहस्थाश्रम में रहकर उद्यम नहीं करने वाला और संन्यासाश्रम में रह कर दूसरा कार्य करने वाला ये ही दो आदमी विपरीत काम करने से विराजमान नहीं होते हैं अर्थात् लोगों को नहीं रुचते ॥६२॥

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः ।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥ ६३ ॥

हे राजन्! क्षमा करने वाला राजा या सामर्थ्यवान् और दान करने वाला दरिद्र ये ही दो आदमी स्वर्ग के ऊपर (ऊँचे स्थान पर) रहते हैं ॥ ६३ ॥

न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥ ६४ ॥

न्याय से उपार्जित धन को अयोग्य के लिये दान देना और योग्य के लिये दान नहीं देना यही दोनों अतिक्रम अर्थात् उल्लङ्घन करना समझना चाहिये ॥ ६४ ॥

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम् ।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ॥ ६५ ॥

अनीश्वरत्वं त्वत्पुत्रे ॥६१॥ निरारम्भः उदासीनत्वं पुत्रकलहनिवारणे ॥६२॥ प्रभुः पाण्डवः ॥ ६३ ॥ पात्रे धर्मे ॥ ६४ ॥ अदातारं त्वत्पुत्रम् ॥ ६५ ॥

धनी होकर दान नहीं करने वाले और दरिद्र होकर तपस्या नहीं करने वाले इन दोनों को गले में बड़ा चट्टान बाँधकर पानी में डुबो देना चाहिये ॥ ६५ ॥

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥ ६६ ॥

हे पुरुषव्याघ्र ! योग करने वाला संन्यासी और युद्ध में सामने मरा हुआ योद्धा ये दोनों सूर्य के मण्डल को भेदन करने वाले अर्थात् मोक्ष के भागी हैं ॥ ६६ ॥

त्रयोऽपाया मनुष्याणां श्रूयन्ते भरतर्षभ ।
कनीयान्मध्यतः श्रेष्ठ इति वेदविदो विदुः ॥ ६७ ॥

हे भरतर्षभ ! लघु, मध्यम और श्रेष्ठ ये तीन उपाय मनुष्यों के सुने जाते हैं ऐसा वेदवेत्ताओं ने कहा है, उनमें शान्ति श्रेष्ठ उपाय है, दान और भेद मध्यम उपाय हैं और युद्ध लघु अर्थात् निकृष्ट उपाय है॥६७॥

त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः ।
नियोजयेद्यथावत्तांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ ६८ ॥

हे राजन् ! उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन तरह के अनेक पुरुष होते हैं, उन लोगों को यथायोग्य तीन तरह के कामों में नियुक्त करे अर्थात् उत्तम पुरुष को उत्तम काम में, मध्यम को मध्यम काम में और छोटे को छोटे काम में लगावे[1] ॥ ६८ ॥

उपाया इति च्छेदः । युद्धं कनीयान् । भेददाने मध्यमः । साम उत्तमः । अपाया इति च्छेदे काम्ययोगः कनीयान् । काम्यधर्मो मध्यमः । इह लोकलोभोऽधमः । 'त्रयो न्याया' इति पाठः स्पष्टार्थः ॥ ६७ ॥ यथावन्नियोजयेत् । त्वया तु अधमाः कर्णादय उत्तमे मन्त्रकार्ये नियुज्यन्ते, इति भावः ॥६८॥

---

१ इस श्लोक से विदुरजी ने धृतराष्ट्र से यह बात बतलाई कि तूने नीच दुःशासनादि को बड़े २ कामों में नियुक्त कर अच्छा नहींकिया।

त्रय एवाधना राजन्! भार्या दासस्तथा सुतः।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥ ६९ ॥

हे राजन्! संसार में स्त्री, नौकर तथा पुत्र ये ही तीन निर्धन हैं। जिस मालिक के जिस धन को वे स्त्री, नौकर या पुत्र पाते हैं, वह धन और वे स्त्री, नौकर तथा पुत्र उसी के ही हैं अर्थात् मालिक के विना रायके वे (स्त्री, नौकर और पत्र) धन के अधिकारी नहीं हो सकते[१] ॥ ६९ ॥

हरणं च परस्वानां परदाराभिमर्शनम्।
सुहृदश्च परित्यागस्त्रयो दोषाः क्षयावहाः ॥ ७० ॥

दूसरों के धन का हरण करना, दूसरे की स्त्री देखने वा छूने आदि दुराचारों से दूषित करना और मित्रों का साथ छोड़ना ये तीन दोष नाशकारक होते हैं[२] ॥ ७० ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ ७१ ॥

काम, क्रोध और लोभ ये तीनों प्रकार के अपने को नाश करने वाले और नरक के दरवाजे हैं, इस कारण इन तीनों को छोड़ना चाहिये ॥ १७ ॥

त्वयि सति त्वत्पुत्रोऽधनः अतः त्वमेव पाण्डवानां राज्यं दातुं प्रभुरसीत्यर्थः ॥ ६९ ॥
हरणादयः त्रयोऽपि दोषाः कामादित्रयसहिताः त्वय्येव सन्तीत्यर्थः ॥ ७० ॥

---

१ इससे विदुर जी ने धृतराष्ट्र को यह समझाया कि—दुर्योधनादि जो राज्य का स्वेच्छा से भोग करते हैं वे तुम्हारी इच्छा से भोग करते हैं यदि तुम चाहते तो पाण्डवों को राज्य दिलवा सकते थे, किन्तु ऐसा न करने में तुम्ही कारण हो न की दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि आदि।

२ इस श्लोक से भी विदुर जी ने यह समझाया कि तू ने पाण्डवों का धन हरण किया है। द्रौपदी को बुरी दृष्टि से देख दूषित करना चाहते थे, मुझ जैसे मित्रों का त्याग किये हो अतः तुम्हारे नाश शीघ्र भावी है।

वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च भारत।
शत्रोश्च मोक्षणं कृच्छ्रात्त्रीणि चैकं च तत्समम् ॥ ७२ ॥

हे भारत! वरदान पाना, राज्य करना और पुत्र पैदा होना तीनों के और वैरी के हाथ से दुःख से छूटना यह एक ही बराबर हैं अर्थात् वरदान पाना इत्यादि तीनों में जितना आनन्द होता है उससे अधिक शत्रु के पञ्जे से छूटने में आनन्द होता है ॥ ७२ ॥

भक्तं च भजमानं च तवास्मीति च वादिनम्।
त्रीनेताञ्छरणं प्राप्तान्विषमेऽपि न संत्यजेत् ॥ ७३ ॥

भक्त को, अपनी सेवा करने वाले को और मैं तुम्हारा हूँ ऐसा कहने वाले जो शरण में आवें तो इन्हें दुःख पड़ने पर भी न छोड़े ॥७३॥

चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन वर्ज्यान्याहुः पण्डितस्तानि विद्यात्।
अल्पप्रज्ञैः सह मन्त्रं न कुर्यान्न दीर्घसूत्रै रभसैश्चारणैश्च ॥ ७४ ॥

मन्द बुद्धिवाले दीर्घ सूत्री (जो थोड़ी देर में होने वाले काम को भी बहुत देरी से करते हैं) जल्दी बाजी करने वाले काम (विना बिचारे ही झटपट काम को आरम्भ कर देने वाले) और नौकर इन चारों के साथ सलाह न करे। महा बलवान् राजा को इन चारों का त्याग करना चाहिये, यह पण्डितों को जानना चाहिये ॥ ७४ ॥

चत्वारि ते तात गृहे वसन्तु श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थ धर्मे।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या ॥७५॥

शत्रोः युधिष्ठिरस्य। कृच्छ्रात् गोत्रवधात् ॥७२॥ भक्तादयः पाण्डवाः। शरणं गृहम्। विषमेऽपि सङ्कटेऽपि। तव तु तन्नास्तीत्यर्थः ॥ ७३ ॥ दीर्घसूत्रैः क्षिप्रसाध्ये कार्ये चिरं कुर्वद्भिः। रभसैः हर्षतरलैः। अलसैरित्यपि पाठः। चारणैः स्तावकैः। अरणैरिति च्छेदो वा रणविरोधिभिर्द्यूताद्यासक्तैरित्यर्थः। अशनैरिति पाठे बहुभोक्तृभिः ॥ ७४ ॥ वृद्धः कुलधर्मान् उपदिशति। कुलीनः शिशून् आचारं ग्राहयति। सखा हितं वदति। तादृशाः भीष्मद्रोणविदुराः।

हे तात ! लक्ष्मी से युक्त आपके गृहस्थाश्रम में 'बूढ़ा स्वजाति' 'दुखिया कुलीन' 'दरिद्र मित्र' और 'विना सन्तान वाली बहन' ये चारो रहें अर्थात् इन चारों को तुम्हें या और किसी भी धनी को गृहस्थाश्रम में रखना चाहिये, क्योंकि इनमें से बूढ़ा स्वजाति अपने कुलाचार को, दुखिया कुलीन बालक आदि को सदाचार को, दरिद्र मित्र हित के बात को सिखलाता है और विना सन्तान वाली बहिन गृहस्थियों के काम को अच्छी तरह संभालती और उन्हें गृहकार्यों को सिखलाती हैं ॥ ७५ ॥

चत्वार्याह महाराज ! साद्यस्कानि बृहस्पतिः ।
पृच्छते त्रिदशेन्द्राय तानीमानि निबोध मे ॥ ७६ ॥

हे महाराज ! इन्द्र के पूछने पर बृहस्पति ने शीघ्र फल देने वाले जिन चार उपायों को बतलाया है उन्हें मुझसे समझो ॥ ७६ ॥

देवतानां च सङ्कल्पमनुभावं च धीमताम् ।
विनयं कृतविद्यानां विनाशं पापकर्मणाम् ॥ ७७ ॥

पहला देवताओं की इच्छा, दूसरा बुद्धिमानों का प्रभाव, तीसरा विद्यावान् लोगों का विनय और पापियों का विनाश (ये चारो शीघ्र फल देने वाले हैं) ॥ ७७ ॥

भगिनी धनं रक्षति । तव गृहे सर्वेऽपि सन्ति परन्तु उपदेशं न गृह्णासीति भावः ॥ ७५ ॥ साद्यस्कानि सद्यःफलानि ॥ ७६ ॥ देवताः स्वर्गभाजः । स्वर्गपदार्थश्च 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥' इत्येवंरूपः, अतस्ते सत्यसङ्कल्पाः धीमतां अगस्त्यादीनां अनुभावं समुद्रयानादिप्रभावम् । तेऽपि देवतुल्या इत्यर्थः । विनयोऽपि गुरुप्रसादकरत्वेन सद्यःफलः । विनाशं विनाशहेतुकर्माऽपि चौर्यादिकं तच्च त्वय्येव अस्ति । तव तु सर्वं कर्म मानार्थमेव, इति भावः ॥ ७७ ॥

चत्वारि कर्माण्यभयङ्कराणि भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि।
मानाग्निहोत्रमुतमानमौनं मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥७८॥

मान के सहित अग्निहोत्र करना, मान के सहित मौन रहना, मान के सहित अध्ययन करना और मान के सहित यज्ञ करना ये चार कर्म अभय करनेवाले हैं; किन्तु इनका ठीक २ व्यवहार नहीं करने पर ये ही भयानक भी हैं ॥ ७८ ॥

पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचार्याः प्रयत्नतः।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ ॥ ७९ ॥

हे भरतर्षभ ! पिता, माता, अग्निहोत्र, आत्मा और गुरु इन पांचों का सेवन मनुष्य को यत्नपूर्वक गृह्याग्नि के समान करना चाहिये ॥७९॥

पञ्चैव पूजयँल्लोके यशः प्राप्नोति केवलम्।
देवान्पितॄन्मनुष्यांश्च भिक्षूनतिथिपञ्चमान् ॥ ८० ॥

देवता, पितर, मनुष्य, भिक्षुक और अतिथि, इन पांचों की पूजा अर्थात् सत्कार करता हुआ मनुष्य अकेले ही यश को पाता है ॥ ८० ॥

पञ्च त्वाऽनुगमिष्यन्ति यत्र यत्र गमिष्यसि।
मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्योपजीविनः ॥ ८१ ॥

मित्र, वैरी, मध्यस्थ, उपजीव्य (बन्दीजन, पुरोहित इत्यादि) और उपजीवी (नौकर चाकर इत्यादि) ये पांचों तुम जहां २ जावोगे, वहां वहां जायेंगे अर्थात् संसार में इन पांचों से जिन्दगी भर छुटकारा मिलने वाला नहीं है ॥ ८१ ॥

अग्निवत् पित्रादयोऽपि पूज्या एव नास्कन्दनीयाः, तव पुत्रस्तु गुरुं युधिष्ठिरं न पूजयतीति भावः ॥ ७९ ॥ पितॄन् अग्निष्वात्तादीन् गोत्रप्रवर्तकान् ऋषींश्च। मनुष्यान् पित्रादीन् 'ज्येष्ठो भ्राता पितुः समः' इति पितृतुल्यस्त्वत्पुत्रस्य युधिष्ठिरः, इति भावः ॥८०॥ त्वा त्वाम्। उपजीव्याः गुरवः। इह लोके साधिता मित्रादयः। इह परलोके जन्मान्तरे वा स्वं स्वं कार्यं कुर्वन्तीत्यर्थः। मित्रेषु पाण्डवेषु

पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्य च्छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम् ।
ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥ ८२ ॥

पांच इन्द्रिय वाले मनुष्य का यदि एक इन्द्रिय भी छिद्र युक्त हो जाय अर्थात् एक भी इन्द्रिय के वश हो जाय तो मनुष्य की बुद्धि वैसे भ्रष्ट हो जाती है जैसे चमड़े के बने मशक में एक भी छिद्र होने से उसका सब पानी गिर जाता है ॥ ८१ ॥

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ ८३ ॥

अधिक सोना, सोकर उठने पर भी आलस्य युक्त हो कर समय बिताना, डरना, क्रोध करना, आलस्य करना और दीर्घसूत्री होना (थोड़ी देर में होने वाले काम को बहुत देरी से करना) ये ६ काम ऐश्वर्य चाहने वाले मनुष्य को छोड़ देने चाहिये ॥ ८३ ॥

षडिमान् पुरुषा जह्याद्भिन्नां नावमिवार्णवे ।
अपवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥ ८४ ॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम् ।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥ ८५ ॥

जो वक्ता न हो ऐसा आचार्य, विना पढा ऋत्विज, रक्षा नहीं करने वाला राजा, प्रिय नहीं बोलने वाली स्त्री, गाँव को चाहने वाला गोपाल और जङ्गल को चाहने वाला हजाम इन ६ को समुद्र में टूटी हुई नाव के समान मनुष्य त्याग दे ॥ ८४-८५ ॥

मैत्रीमाचरेदिति भावः । त्वं तु अन्धत्वात् दुर्जनवचनप्रतारितः पाण्डवानां गुणान् न पश्यसीति भावः ॥ ८१ ॥ दृतेश्चर्ममयात् जलपात्रात् ॥ ८२ ॥ षडिति-क्रोधोऽत्र तन्मूलको द्वेषो ग्राह्यः ॥ ८३ ॥ पाण्डवानाम् अरक्षिता राजा त्वं अन्येषामपि त्याज्यो भविष्यसीत्यर्थः ॥ ८४-८५ ॥ दुर्योधनत्यागार्थं

षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन ।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ॥ ८६ ॥

सत्य बोलना, सत्पात्र को दान देना, आलस्य हीन रहना, किसी से द्वेष ईर्ष्या नहीं करना, क्षमा करना, धैर्य रखना, ये ६ गुण हैं, मनुष्य को इन्हें कभी नहीं छोड़ना चाहिये ॥ ८६ ॥

अर्थागमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन्॥८७॥

हे राजन् ! धन का आगम, सदा नीरोग रहना, प्रिया स्त्री, प्रिय बोलने वाली स्त्री, वश में रहने वाला पुत्र, धन पैदा करने वाली विद्या ये ६ प्राणियों के सुख हैं अर्थात् जिनको ये ६ हैं, वही मनुष्य सुखी है ॥ ८७ ॥

षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति ।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः ॥ ८८ ॥

आत्मा में रहने वाले काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य, इन छवोंपर जो ऐश्वर्य कर लेता है अर्थात् इनको जो वश में कर लेता है वह जितेन्द्रिय पापों से युक्त नहीं होता है, फिर अनर्थों से कैसे युक्त हो सकता है अर्थात् उक्त पुरुष पाप और अनर्थ नहीं करता है ॥ ८८ ॥

षडिमे षट्सु जीवन्ति सप्तमो नोपलभ्यते ।
चौराः प्रमत्ते जीवन्ति व्याधितेषु चिकित्सकाः ॥ ८९ ॥

तव धृतिर्धैर्यं नास्तीति भावः ॥ ८६ ॥ षण्णामिति—आत्मनि चित्ते नित्यानां षण्णाम् । 'कामक्रोधौ शोकमोहौ मदमानौ च षट्पदा' इत्युक्तानाम् । ऐश्वर्यं वशित्वम् । त्वं तु राज्यकामः पापैरनर्थैश्च युक्तोऽसीति भावः ॥ ८८ ॥

प्रमदाः कामयानेषु यजमानेषु याजकाः ।
राजा विवदमानेषु नित्यं मूर्खेषु पण्डिताः ॥ ९० ॥

प्रमादियों से चोर, रोगियों से वैद्य डाक्टर आदि चिकित्सक, कामियों से वेश्या, यजमानों से यज्ञ कराने वाले आचार्य, ऋत्विक्, होता इत्यादि याजक, मुकद्मेबाजों से राजा, मूर्खों से पण्डित, इन छवों से चोर आदि छवों की सदा जीविका चलती है, सातवां जीविका का स्थान कोई भी नहीं मिलता है ॥ ८९-९० ॥

षडिमानि विनश्यन्ति मुहूर्तमनवेक्षणात् ।
गावः सेवा कृषिर्भार्या विद्या वृषलसङ्गतिः ॥९१॥

गौ, सेवा करना (नौकरी आदि), खेती, स्त्री, विद्या, शूद्रों (क्षुद्रों) का साथ, ये ६ मुहूर्तभर (दो घड़ी) भी नहीं देखने से नष्ट हो जाते हैं ॥९१॥

षडेते ह्यवमन्यन्ते नित्यं पूर्वोपकारिणम् ।
आचार्यं शिक्षिताः शिष्या कृतदाराश्च मातरम् ॥९२॥
नारीं विगतकामास्तु कृतार्थाश्च प्रयोजकम् ।
नावं निस्तीर्णकान्तारा आतुराश्च चिकित्सकम् ॥९३॥

शिक्षा पाये हुए शिष्य आचार्य्य को, स्त्री को पाये (विवाह किये) हुए पुत्र अपने पालनेवाली माता को, काम रहित जन स्त्री को, कृतकार्य (जिसके काम हो गये हैं वे) स्वामी अर्थात् जिसकी मदद से काम पूरा हुआ है उसको, जल को पार किये हुए लोग नाव को और रोगी चिकित्सक (वैद्य, डाक्टर आदि दवा देने वाले) को, पूर्व में उपकार करने वाले इन छवों को ये शिष्यादि ६ अवश्य ही त्याग देते हैं ॥ ९२-९३ ॥

पण्डिताः पाण्डवाः मूर्खेषु त्वत्पुत्रेषु राज्यं लप्स्यन्त्येवेत्यर्थः ॥ ९० ॥ वृषलः शूद्रः, पुत्रस्नेहाक्रान्तेन त्वया सद्विद्यानवेक्षणान्नाशिताः, अन्यथा सत्यं न जह्या इति भावः ॥ ९१ ॥ आतुरा आरोग्ये सतीति शेषः । त्वं तु कृत्स्नराज्य-

आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः
सद्भिर्मनुष्यैः सह सम्प्रयागः।
स्वप्रत्ययावृत्तिरभीतवासः
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥९४॥

हे राजन्! नीरोग रहना, किसी का ऋणी (कर्जदार) न होना, परदेश में न रहना, सज्जनों का साथ रहना, अपने मन के अनुसार वृत्ति और निर्भय होकर रहना ये ६ जीवलोक के सुख हैं ॥९४॥

ईर्षुर्घृणी न सन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः ॥९५॥

ईर्ष्या करने वाला, घृणा करने वाला, सन्तोष नहीं करने वाला, क्रोधी, सदा डरने वाला और दूसरे के भाग्यपर जीविकावाला ये ६ सदा ही दुःखी रहते हैं ॥९५॥

सप्त दोषाः सदा राज्ञा हातव्या व्यसनोदयाः।
प्रायशो यर्विनश्यन्ति कृतमूला अपीश्वराः ॥९६॥

जिन दोषों से मजबूत जड़वाले समर्थवान् भी प्रायः नष्ट हो जाते हैं, व्यसनों से उत्पन्न वे सात दोष राजाओं को सर्वदा छोड़ देना चाहिये (उन दोषों को आगे श्लोक में कह रहे हैं) ॥ ९६ ॥

स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं वाक्पारुष्यं च पञ्चमम्।
महच्च दण्डपारुष्यमर्थदूषणमेव च ॥ ९७ ॥

स्त्री का अधिक संसर्ग करना, जुआ खेलना, शिकार करना, मदिरा आदि नशीली चीजें पीना, कठोर वचन बोलना, कठोर दण्ड

लाभेन कृतकृत्यत्वात् पाण्डवानवमन्यसे ॥९३॥ स्वप्रत्यया स्वानुकूला वृत्तिर्जीविका। तव सत्सङ्गो नास्तीत्यर्थः ॥ ९४ ॥ ईर्षुरिति–त्वयि तु ईर्षुत्वम्। घृणा दया। तव तु वश्यः पुत्रो नास्तीति भावः ॥ ९५ ॥ वाक्पारुष्यं च पाण्डवेषु

देना और धन का अपव्यय (बुरे कामों में खर्च करना) इन सात कामों को छोड़ना चाहिये ॥ ९७ ॥

अष्टौ पूर्वनिमित्तानि नरस्य विनशिष्यतः ।
ब्राह्मणान् प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणैश्च विरुध्यते ॥ ९८ ॥

नष्ट होनेवाले मनुष्य के आगे कहे हुए आठ निमित्त पहले ही से होने लगते हैं। ब्राह्मणों से द्वेष करता है, ब्राह्मणों से विरोध करता है ॥ ९८ ॥

ब्राह्मणस्वानि चादत्ते ब्राह्मणांश्च जिघांसति ।
रमते निन्दया चैषां प्रशंसां नाभिनन्दति ॥ ९९ ॥

ब्राह्मणों के धन को लेता है, ब्राह्मणों को मारने की इच्छा करता है, इन (ब्राह्मण) लोगों की निन्दा से खुश होता है, इन लोगों की बड़ाई को पसन्द नहीं करता है ॥ ९९ ॥

नैनान्स्मरति कृत्येषु याचितश्चाभ्यसूयति ।
एतान्दोषान्नरः प्राज्ञो बुध्येद् बुद्ध्वा विसर्जयेत् ॥ १०० ॥

काम पड़ने पर ब्राह्मणों को याद नहीं करता और याचना करने पर ईर्ष्या करता है। बुद्धिमान् मनुष्य इन्हें दोष समझ कर इनका त्याग कर दें ॥ १०० ॥

अष्टाविमानि हर्षस्य नवनीतानि भारत ।
वर्तमानानि दृश्यन्ते तान्येव स्वसुखान्यपि ॥ १०१ ॥

आगे कहे हुए ये ८ मक्खन के समान हर्ष के सारभूत हैं और ये ही आठ रहने पर अपने सुखस्वरूप दिखाई देते हैं ॥ १०१ ॥

त्वत्पुत्रैः कृतम् ॥ ९७ ॥ द्वेष्टि मनसा अनिष्टं चिन्तयति । विरुध्यते कर्मणा ॥ ९८ ॥अष्टसु चरमं त्वत्पुत्रे मैत्रेयस्यावमानतो भविष्यतीति जानामीति भावः ॥ १०१ ॥

समागमश्च सखिभिर्महांश्चैव धनागमः।
पुत्रेण च परिष्वङ्गः सन्निपातश्च मैथुने ॥ १०२ ॥

मित्रों के साथ समागम होना, बड़े भारी धन का मिलना, पुत्र के साथ मुलाकात होना, मैथुन के समय वीर्य का पात होना ॥१०२॥

समये च प्रियालापः स्वयूथ्येषु समुन्नतिः।
अभिप्रेतस्य लाभश्च पूजा च जनसंसदि ॥१०३॥

मौके पर प्रिय वार्तालाप होना, अपने वर्ग की उन्नति होना, चाही हुई वस्तु का मिलना और मनुष्यों की सभा में सत्कार पाना (ये आठ सुख के सारभूत हैं) ॥१०३॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥१०४॥

बुद्धि, कुलीनता, इन्द्रियों को वश में रखना, शास्त्र पढ़ना, पराक्रम, थोड़ा बोलना, यथाशक्ति दान करना और कृतज्ञता अर्थात् किये हुए उपकार को मानना ये आठ गुण पुरुष को प्रकाशित करते हैं ॥१०४॥

नवद्वारमिदं वेश्म त्रिस्थूणं पञ्चसाक्षिकम्।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वेद स परः कविः ॥१०५॥

जनसंसदि सभायां द्रौपद्या आनयनेन पूजाऽपि तव नष्टा ॥ १०३ ॥

नवेति—श्रोत्रादिपञ्चकं मनोबुद्ध्यहङ्काराः स्थूलशरीरं च इति नव द्वाराणीव द्वाराणि विषयग्रहणमार्गा यस्मिंस्तत्। तिस्रः स्थूणाः स्तम्भा इव विधारका यस्य ते च अविद्या कामः कर्म च। वेश्म गृहं देहद्वयात्मकम्। पञ्च साक्षिवदुदासीनाः शब्दादयो ग्राह्या यस्मिन्। पञ्चभूमिकमिति पाठे पञ्चभूमयः प्रचारस्थानानीति ते एव। पाञ्चभौतिकमित्यर्वाचीनः पाठ उपेक्ष्यः। क्षेत्रज्ञेन चिदा-

दो आँख, दो कान, दो नाक, मुँह, गुदा (पाखाना मार्ग) उपस्थ (पेशाब का रास्ता) इन नौ दरवाजे वाला, अविद्या, काम और कर्म इन तीन स्थूण थून्हीं (खम्भों) वाला, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन पाँच साक्षी वाला क्षेत्रज्ञ आत्मावाला यह शरीररूपी घर है। इसको जो विद्वान् जानता है, वही उत्तम कवि अर्थात् विद्वान् है ॥१०५॥

दश धर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्र ! निबोध तान् ।
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ॥१०६॥

हे धृतराष्ट्र ! इस तरह के लोग-मदपान आदि से मतवाला, विषयों में आसक्त रहने से असावधानी करनेवाला, उन्माद आदि से पागल, थका हुआ, क्रोधी, भूखा ॥१०६॥

त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीतः कामी च ते दश ।
तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पण्डितः ॥१०७॥

जल्दी करने वाला, लोभी, डरा हुआ और कामी, ये दश तरह के मनुष्य धर्म को नहीं जानते, अतः इन दशों में बुद्धिमान् मनुष्य को आसक्त नहीं होना चाहिये ॥ १०७ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पुत्रार्थमसुरेन्द्रेण गीतं चैव सुधन्वना ॥ १०८ ॥

इसी विषय में लोग इस पुराने इतिहास को उदाहरण देते हैं कि असुरों का राजा सुधन्वा ने लड़के के लिये गान गाया था ॥ १०८ ॥

यः काममन्यू प्रजहाति राजा पात्रे प्रतिष्ठापयते धनं च ।
विशेषविच्छ्रुतवान् क्षिप्रकारी तं सर्वलोकः कुरुते प्रमाणम् ॥१०९॥

त्मना अधिष्ठितमिदं क्षेत्रं तत्त्वेन यो विद्वान् वेद स परः सर्वोत्कृष्टः कविर्ब्रह्मविदित्यर्थः ॥१०५॥ मत्तो मद्यादिना । प्रमत्तो विषयान्तरासक्त्या अनवहितः । उन्मत्तो धातुदोषात् । एतेषां मध्ये त्वं लुब्धोऽसीति भावः ॥ १०६ ॥

काममन्यू कामक्रोधौ । विशेषवित् तारतम्यज्ञः ॥ १०९ ॥

जो राजा काम और क्रोध को छोड़ देता है, सत्पात्र में धन को खर्च करता है, अच्छी तरह शास्त्रों का ज्ञाता है और कामों को विचार कर जल्दी करता है, उस राजा का सब लोग प्रमाण मानते हैं अर्थात् विश्वास करते हैं ॥ १०९ ॥

जानाति विश्वासयितुं मनुष्यान् विज्ञातदोषेषु दधाति दण्डम् ।
जानाति मात्रां च तथा क्षमां च तं तादृशं श्रीर्जुषते समग्रा ॥११०॥

जो मनुष्यों को अपनेपर विश्वास कराता है, दोषों को जानकर दण्ड देता है, अपराध के मुताबिक कम वेशी दण्ड देता है, और क्षमा करता है उस तरह के उस राजा की सम्पूर्ण लक्ष्मी सेवा करती है ॥११०॥

सुदुर्बलं नावजानाति कञ्चिद्युक्तो रिपुं सेवते बुद्धिपूर्वम् ।
न विग्रहं रोचयते बलस्थैः काले च यो विक्रमते स धीरः ॥१११॥

जो योग्य पुरुष किसीको दुर्बल नहीं समझता है, शत्रु को बुद्धिपूर्वक सेवन करता है, बलवानों के साथ वैर नहीं करता है और मौका आनेपर पराक्रम करता है वह मनुष्य धीर है ॥ १११ ॥

प्राप्यापदं न व्यथते कदाचिदुद्योगमन्विच्छति चाप्रमत्तः ।
दुःखं च काले सहते महात्मा धुरन्धरस्तस्य जिताः सपत्नाः ॥११२॥

जो आपत्ति को पाकर भी दुःखित नहीं होता है, सावधान होकर उद्योग करने की इच्छा करता है और समय पर दुःख भी सह लेता है वह धुरन्धर (बहुत बड़ा) महात्मा है और उसके शत्रु जीते जाते हैं ॥ ११२ ॥

मात्रां अपराधानुसारेण दण्डप्रमाणं ब्राह्मणादौ अपराधस्य क्षमां च जानाति ॥ ११० ॥ युक्तः छिद्रप्रेक्षणे अवहितः ॥ १११ ॥ धुरन्धरः कार्यभारसहः ॥ ११२ ॥

अनर्थकं विप्रवासं गृहेभ्यः पापैः सन्धिं परदाराभिमर्शम् ।
दम्भं स्तैन्यं पैशुनं मद्यपानं न सेवते यश्च सुखी सदैव ॥११३॥

जो घर छोड़ व्यर्थ ही परदेश में नहीं रहता, पापियों के साथ सन्धि (मेल) नहीं करता, दूसरों की स्त्रियों का अभिमर्श (बलात्कार या बुरी दृष्टि से दूषित) नहीं करता, दम्भ नहीं करता; चोरी नहीं करता, चुगलखोरी नहीं करता, मद आदि नशीली चीजों को नहीं पीता, वही मनुष्य सर्वदा सुखी रहता है ॥११३॥

न संरम्भेणारभते त्रिवर्गमाकारितः शंसति तत्त्वमेव ।
न मित्रार्थे रोचयते विवादं नापूजितः कुप्यति चाप्यमूढः ॥११४॥

जो क्रोध से या एकाएक अर्थ धर्म और काम आरम्भ नहीं करता, किसीके पूछने पर उससे वास्तविक ही बात बतलाता है, मित्रों के लिये विवाद को करना अच्छा नहीं समझता और सत्कार नहीं करने पर क्रोध नहीं करता वही विद्वान् है ॥ ११४ ॥

न योऽभ्यसूयत्यनुकम्पते च न दुर्बलः प्रातिभाव्यं करोति ।
नात्याह किञ्चित् क्षमते विवादं सर्वत्र तादृग्लभते प्रशंसाम् ॥११५॥

जो न किसी की निन्दा करता है, न सब पर दया करता[1] है, न दुर्बल होकर विरोध करता है, कुछ भी अधिक (व्यर्थ) नहीं बोलता, झगड़ा को शान्त करता है, वैसा पुरुष सर्वत्र बड़ाई को पाता है॥११५॥

संरम्भेण क्रोधेन। त्रिवर्गं धर्मकामार्थान्। आकारितः आहूतः। पाठान्तरे मात्रार्थे अल्पार्थे ॥ ११४ ॥ प्रातिभाव्यं प्रतिकूलो भावः चित्ताभिप्रायः तस्य भावः प्रातिभाव्यं विरोधम्। अत्याह अतिक्रम्य ब्रवीति ॥ ११५ ॥

---

१ जो आततायी आदि महा दुष्ट हैं, उन पर सदा दया करने में भी शास्त्रकारों ने दोष बतलाया है, क्योंकि दया कर उन्हें क्षमा कर देने पर वे अपनी दुष्टता से बाज नहीं आते, अतः उनको दण्ड देना ही उचित है ॥

योनोद्धतं कुरुते जातु वेषं न पौरुषेणापि विकत्थतेऽन्यान्।
न मूर्च्छितः कटुकान्याह किञ्चित् प्रियं सदा तं कुरुते जनो हि ११६

जो अपने वेष को उद्धत अपनी हैसियत से अधिक नहीं बनाता है, अपने पुरुषार्थ को दूसरों से नहीं कहता है, और वेहोशी में भी थोड़ा सा भी कटुवचन नहीं वोलता है उसको लोग सर्वदा अपना प्रिय मानते हैं ॥ ११६ ॥

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं न दर्पमारोहति नास्तमेति।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ॥११७॥

जो शान्त हुए झगड़े को फिर से नहीं उभाड़ता है, दर्प नहीं करता है, खिन्न नहीं होता है, और मैं दुर्गति को पाया हूँ ऐसा समझकर अकार्य (नहीं करने योग्य काम) को नहीं करता है उस मनुष्य को श्रेष्ठ लोग अत्यन्त अच्छा शीलवान् कहते हैं ॥ ११७ ॥

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुते च तापं स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ॥११८॥

जो अपने सुख में हर्ष नहीं करता, दूसरों के दुःख में खुश नहीं होता और किसी को कुछ देकर पछतावा नहीं करता है वह सज्जन और अच्छे शीलवाला कहा जाता है ॥ ११८ ॥

देशाचारान् समयान् जातिधर्मान् बुभूषते यः स परावरज्ञः।
स यत्र तत्राभिगतः सदैव महाजनस्याधिपत्यं करोति ॥११९॥

देश आचार, और समय के अनुकूल जाति-धर्मों को सुशोभित करता है वह पूर्वापर को समझने वाला है वह जहाँ जाता है वहाँ ही बड़ों का अधिपति (स्वामी) बनता है ॥ ११९ ॥

समयान् सिद्धान्तान्। बुभूषते ऐश्वर्यं प्राप्तुमिच्छति। परावरज्ञः—उत्तमाधमविवेकवान् ॥ ११९ ॥

दम्भं मोहं मत्सरं पापकृत्यं राजद्विष्टं पैशुनं पूगवैरम्।
मत्तोन्मत्तैर्दुर्जनैश्चापि वादं यः प्रज्ञावान् वर्जयेत्स प्रधानः॥१२०॥

जो बुद्धिमान् दम्भ, मोह, मत्सर, पापकर्म, राजा से विरोध, पिशुनता (चुगलखोरी), बहुतों के साथ वैर तथा मतवाले पागल और दुष्टों से विवाद नहीं करता है वह पुरुष प्रधान है॥ १२०॥

दानं मोहं दैवतं मङ्गलानि प्रायश्चित्तान् विविधाँल्लोकवादान्।
एतानि यः कुरुते नैत्यकानि तस्योत्थानं देवता राधयन्ति॥१२१॥

दान, मोह (प्रेम) देवकार्य, मङ्गल कार्य, प्रायश्चित्त अनेक तरह के लोकवाद इनको जो करता है उसकी उन्नति को देवता लोग सिद्ध करते हैं॥ १२१॥

समैर्विवाहं कुरुते न हीनैः समैः सख्यं व्यवहारं कथां च।
गुणैर्विशिष्टांश्च पुरो दधाति विपश्चितस्तस्य नयाः सुनीताः॥१२२॥

जो बराबरी वालों के साथ विवाह, दोस्ती, व्यवहार और कथा (बातचीत) करता है और हीनों के साथ इनको नहीं करता है उस विद्वान् की नीति अच्छी तरह चलती है॥ १२२॥

मितं भुङ्क्ते संविभज्याश्रितेभ्यो मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा।
ददात्यमित्रेष्वपि याचितः संस्तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थाः॥१२३॥

जो आश्रितों (आश्रय में रहनेवाले नौकर इत्यादि) को बाँटकर परिमित भोजन करता है, अधिक काम करके भी परिमित ही सोता है और मांगने पर वैरियों को भी देता है उस आत्मवान् आत्मबल वाले को अनर्थ छोड़ देते हैं॥१२३॥

दम्भं परवञ्चनेच्छया धर्मानुष्ठानम्। मोहं अनात्मन्यात्मबुद्धिम्। मत्सरं द्वेषम्। पापकृत्यं पापक्रियां अभिचारादिरूपाम्। पूगवैरं बहुभिः सह वैरम्॥ १२०॥

चिकीर्षितं विप्रकृतं च यस्य नान्ये जनाः कर्म जानन्ति किञ्चित्।
मन्त्रे गुप्ते सम्यगनुष्ठिते च नाल्पोऽप्यस्य च्यवते कश्चिदर्थः ॥१२४॥

जिसके किये जानेवाले काम को और आरम्भ करने के बाद कुछ हो जानेपर बिगड़े हुए काम को मनुष्य जरा भी जानने नहीं पाते हैं तथा जिसका सलाह गुप्त रहता है और पूरा हो जाता है उस मनुष्य का कोई अथ (मतलब) थोड़ा भी नहीं बिगड़ता है ॥ १२४ ॥

यः सर्वभूतप्रशमे निविष्टः सत्यो मृदुर्मानिकृच्छुद्धभावः।
अतीव स ज्ञायते ज्ञातिमध्ये महामणिर्जात्य इव प्रसन्नः ॥१२५॥

जो सब प्राणियों के शान्ति में लगा है, सत्य बोलता है, कोमल स्वभाव वाला है, मान करने वाला है, पवित्र भाववाला है वह जातिवालों के बीच अत्युत्तम समझा जाता है। जैसे सामान्य मणियों के बीच में अच्छे खान में उत्पन्न मणि श्रेष्ठ माना जाता है ॥ १२५ ॥

य आत्मनाऽपत्रपते भृशं नरः स सर्वलोकस्य गुरुर्भवत्युत।
अनन्ततेजाः सुमनाः समाहितः स तेजसा सूर्य इवावभासते ॥१२६॥

जो किसी बुरे काम को करने पर दूसरों के नहीं जानने पर भी आप ही आप लज्जित होता है वह सम्पूर्ण संसार का गुरु होता है अर्थात् श्रेष्ठ माना जाता है। और बहुत तेजस्वी, अच्छे चित्त वाला, सावधान वह पुरुष सूर्य की तरह प्रकाशित होता है ॥ १२६ ॥

वने जाताः शापदग्धस्य राज्ञः
पाण्डोः पुत्राः पञ्च पञ्चेन्द्रकल्पाः।
त्वयैव बाला वर्धिताः शिक्षिताश्च
तवादेशं पालयन्त्याम्बिकेय! ॥ १२७ ॥

जात्यः अभिजातः उत्तमे आकरे जातः ॥ १२५ ॥ आत्मना अपत्रपते—परैरज्ञातेऽपि स्वव्यलीके स्वयमेव लज्जते ॥ १२६ ॥

हे अम्बिकेय ! शाप से दग्ध राजा पाण्डु के पांच इन्द्र के तुल्य जङ्गल में पैदा हुए पांच पुत्र (युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव) तुम्ही से बढ़ाये और शिक्षा पाये हुए हैं वे तुम्हारी ही आज्ञा का पालन करते हैं (अर्थात् वे तुम्हारी ही आज्ञा से वनवास करते हैं न कि दुर्योधन आदि की आज्ञा से) ॥ १२७ ॥

प्रदायैषामुचितं तात ! राज्यं
सुखी पुत्रैः सहितो मोदमानः ।
न देवानां नापि च मानुषाणां
भविष्यसि त्वं तर्कणीयो नरेन्द्र ! ॥ १२८ ॥

इति श्रीमहाभारते प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये
[१] त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

हे तात ! इन लोगों का हिस्सा (राज्य) देकर पुत्रों के साथ हर्षित होते हुए सुखी होइये । हे नरेन्द्र ! तो तुम देवताओं और मनुष्यों किसी के भी शङ्कनीय नहीं होवोगे अर्थात् देवता या मनुष्य कोई भी आप पर सन्देह या आक्रमण करने के विचार न करेंगे ॥ १२८ ॥

इति श्री महाभारते प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये
व्या. आ. 'विद्यारत्न' पं० माधवप्रसादव्यासेन
(प्रथमोऽ) कृतायां भाषाटीकायां
त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

तर्कणीयः शङ्कयः ॥१२८॥

(२)-अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः॥

धृतराष्ट्र उवाच।

जाग्रतो दह्यमानस्य यत्कार्यमनुपश्यसि।
तद् ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि॥ १॥

धृतराष्ट्र ने विदुर जी से पूछा कि-हे तात! जागते और चिन्ता से जलते हुए मुझको जो काम करने योग्य हो, उसे बतलाइये; क्योंकि-आप धर्म और अर्थ में चतुर हैं॥ १॥

त्वं मां यथावद्विदुर! प्रशाधि प्रज्ञापूर्वं सर्वमजातशत्रोः।
यन्मन्यसे पथ्यमदीनसत्त्व! श्रेयस्करं ब्रूहि तद्वै कुरूणाम्॥ २॥

हे विदुरजी! आप मुझे यथायोग्य उपदेश दीजिये और युधिष्ठिर की भी सब राय बतलाइये। हे श्रेष्ठ आत्मावाले! कौरवों के लिये जिसे हित और मङ्गलकारी समझते हों, उसे कहो॥ २॥

पापाशङ्की पापमेवानुपश्यन् पृच्छामि त्वां व्याकुलेनात्मनाऽहम्।
कवे! तन्मे ब्रूहि सर्वं यथावन् मनीषितं सर्वमजातशत्रोः॥३॥

पाप की शङ्का करने वाला मैं पाप ही देखता हुआ व्याकुलित आत्मावाला होकर आपसे पूछता हूँ। हे विद्वन्! युधिष्ठिर के मन की सब बातें मुझसे अच्छी तरह कहिये॥ ३॥

विदुर उवाच।

शुभं वा यदि वा पापं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम्।
अपृष्टस्यास्य तद् ब्रूयाद्यस्य नेच्छेत्पराभवम्॥ ४॥

दह्यमानस्य चिन्ताग्निनेति शेषः। धर्मार्थयोः कुशलः, मोक्षस्य वक्तुमनधिकाराद् द्वयोरेव ग्रहः॥१॥ अजातशत्रोः पथ्यं कुरूणां च श्रेयस्करम्॥२॥ पापाशङ्की भाविदुःखादुद्विजन्। पापं स्वकृतं पूर्वापराधं पश्यन्। कवे-हे सर्वज्ञ॥३॥

यह सुन विदुरजी ने धृतराष्ट्र से कहा कि शुभ हो या अशुभ, द्वेष करने योग्य हो या प्रिय अर्थात चाहे जैसा भी हो किन्तु बाद में हित-कर जरूर हो वह बात जिसके पराजय को नहीं चाहे उससे विना पूछे भी कह दे ॥ ४ ॥

तस्माद्वक्ष्यामि ते राजन् ! हितं यत्स्यात्कुरून् प्रति ।
वचः श्रेयस्करं धर्म्यं ब्रुवतस्तन्निबोध मे ॥ ५ ॥

इस कारण हे राजन् ! जो बात कौरवों के हित करने वाली है, उसे मैं कहता हूँ। धर्मयुक्त और कल्याणकारी वचन कहते हुए मुझसे वह बात सुनो ॥ ५ ॥

मिथ्योपेतानि कर्माणि सिद्ध्येयुर्यानि भारत ।
अनुपायप्रयुक्तानि मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ ६ ॥

हे भारत ! झूठे व्यवहार और खराब उपायों से जो काम सिद्ध होवे उन कामों में मन को कभी न लगाओ ॥ ६ ॥

तथैव योगविहितं यत्तु कर्म न सिद्ध्यति ।
उपाययुक्तं मेधावी न तत्र ग्लपयेन्मनः ॥ ७ ॥

उसी तरह योग से किया हुआ उपाय से युक्त जो काम नहीं सिद्ध हो उसमें मन को कभी न लगावे अर्थात् उस असाध्य काम की सिद्धि के लिये व्यर्थ दिमाग न मारे ॥ ७ ॥

अनुबन्धानपेक्षेत सानुबन्धेषु कर्मसु ।
सम्प्रधार्य च कुर्वीत न वेगेन समाचरेत् ॥ ८ ॥

प्रयोजनवाले कामों में प्रयोजन की अपेक्षा करे और विचार कर काम करे, जल्दीबाजी न करे ॥ ८ ॥

मिथ्योपेतानि कपटद्यूतादीनि । अनुपायैः असदुपायैः प्रयुक्तानि । दुःख-फलानीत्यर्थः ॥ ६ ॥ अनुबन्धान् प्रयोजनानि सम्प्रधार्य निश्चित्य ॥ ८ ॥

अनुबन्धं च सम्प्रेक्ष्य विपाकं चैव कर्मणाम्।
उत्थानमात्मनश्चैव धीरः कुर्वीत वा न वा ॥ ९ ॥

धैर्यवान् मनुष्य पहले प्रयोजन को फिर उससे होने वाले फल को और बाद में अपने सामर्थ्य को देखकर ही काम करे या छोड़ दे ॥९॥

यः प्रमाणं न जानाति स्थाने वृद्धौ तथा क्षये।
कोशे जनपदे दण्डे न स राज्येऽवतिष्ठते ॥ १० ॥

जो स्थिति, वृद्धि (लाभ), क्षय (हानि), खजाना, देश और शासन के विषय में प्रमाण को नहीं जानता वह राज्य में नहीं रहता अर्थात् इनकी जानकारी रखने वाला ही राज्य का अधिकार पाने के योग्य है ॥ १० ॥

यस्त्वेतानि प्रमाणानि यथोक्तान्यनुपश्यति।
युक्तो धर्मार्थयोर्ज्ञाने स राज्यमधिगच्छति ॥ ११ ॥

जो पूर्वोक्त प्रमाणों को अच्छी तरह जानता है और अर्थ तथा धर्म का ज्ञान रखता है वही राज्य को पाता है ॥ ११ ॥

न राज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसाम्प्रतम्।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम् ॥ १२ ॥

'मुझे राज्य मिल गया' यह समझ अनुचित व्यवहार नहीं करना चाहिए; क्योंकि बुढ़ापा जैसे उत्तम रूप को नष्ट कर देता है वैसे ही अविनय धन को नष्ट कर देता है ॥१२॥

विपाकः फलसिद्धावपि परिणामः। उत्थानं उद्यमं वा नवेति सिद्धिपक्षे कुर्वीत नान्यथेत्यर्थः ॥९॥ प्रमाणं निश्चयद्वारं स्थानादीनि सर्वदा विचार्याणीत्यर्थः। स्थाने दुर्गादौ दण्डे सेनायाम् ॥ १० ॥ एतानि स्थानादिज्ञापकानि प्रमाणादि-लेख्यादीनि ॥ ११ ॥ असाम्प्रतं अयुक्तं यथास्यात्तथा न वर्तितव्यम् ॥ १२ ॥

भक्ष्योत्तमप्रतिच्छन्नं मत्स्यो बडिशमायसम् ।
लोभाभिपाती ग्रसते नानुबन्धमवेक्षते ॥ १३ ॥

लोभ करने वाली मछली उत्तम भोजन से ढकी हुई लोहे की वंशी को निगल जाती है और प्रयोजन को नहीं देखती; उसी तरह बिना फल को समझे भविष्य में खराब फल देने वाले काम को करने पर मनुष्य वंशी से फंसी हुई मछली की तरह नष्ट होते हैं ॥१३॥

यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्च यत् ।
हितं च परिणामे यत्तदाद्यं भूतिमिच्छता ॥ १४ ॥

जो वस्तु खाने के योग्य हो, खाने पर पच सके और पचने पर हितकर हो वह वस्तु ऐश्वर्य्य चाहने वाले मनुष्य को भोजन करनी चाहिये ॥ १४ ॥

वनस्पतेरपक्वानि फलानि प्रचिनोति यः ।
स नाप्नोति रसं तेभ्यो बीजं चास्य विनश्यति ॥१५॥

जो वनस्पतियों (वृक्ष लता इत्यादिकों) के बिना पके हुए फलों को बटोरता है वह उनसे रस को नहीं पाता है और फल के बीज भी नष्ट हो जाते हैं ॥१५॥

यस्तु पक्वमुपादत्ते काले परिणतं फलम् ।
फलाद्रसं स लभते बीजाच्चैव फलं पुनः ॥१६॥

जो समय पर पके हुए फलों को लेता है; वह उनसे रस को पाता है और बीज से फिर फल को भी पाता है। उक्त दोनों श्लोकों से विदुर जी ने यह बतलाया कि जिस काम से कोई फल न निकले और काम भी बिगड़ जाय उस काम को नहीं करना चाहिये ॥१६॥

भक्ष्येति मुखे मिष्टं अन्ते मृत्युदं कर्म न कर्तव्यमित्यर्थः । अनुबन्धं पश्चाद्बन्धनम् ॥ १३ ॥ आद्यं भक्षणीयम् ॥ १४ ॥

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः ।
तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया ॥१७॥

जिस तरह भौंरा फूलों की रक्षा करता हुआ उनसे मधु लेता है, उसी तरह मनुष्यों के बिना सताए उनसे धन को लेवे ॥१७॥

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत् ।
मालाकार इवारामं न यथाङ्गारकारकः ॥१८॥

जसे माली एकएक फूल को चूंगता है और उनकी जड़ (फुलबाड़ी) को नष्ट नहीं करता, वैसे ही राजा को चाहिये कि-प्रत्येक प्रजाओं से धीरे २ धन को लेवे, उनका मूल से नाश न करे और जैसे अङ्गारकारक (कोयले को बनाने वाला) पेड़ों के फूल, फल और डाल को नहीं लेता, किन्तु पेड़ की जड़ को ही नष्ट कर देता है वैसे राजा न करे अर्थात् प्रजाओं का मूलोच्छेद न करे ॥१८॥

किन्नु मे स्यादिदं कृत्वा किन्नु मे स्यादकुर्वतः ।
इति कर्माणि सञ्चिन्त्य कुर्याद्वा पुरुषो न वा ॥१९॥

इस काम को करने पर न मालूम क्या होगा और नहीं करने पर न जाने क्या होगा ? यह सोच कर मनुष्य काम को करे या न करे अर्थात् विना सोचे विचारे किसी काम को करना या छोड़ना नहीं चाहिये ॥ १९ ॥

अनारभ्या भवन्त्यर्थाः केचिन्नित्यं तथाऽऽगताः ।
कृतः पुरुषकारो हि भवेद्येषु निरर्थकः ॥ २० ॥

जो अर्थ सर्वदा प्राप्य नहीं हो और जिनमें किया पुरुषार्थ व्यर्थ हो जाय वे आरम्भ करने के योग्य नहीं हैं ॥ २० ॥

अङ्गारकारको हि मूलत उत्कृत्य काष्ठं दहति अङ्गार इङ्गालः ॥ १८ ॥
अनारभ्याः प्रबलैः सह वैरादयः । आगताः कदाचिदप्यप्राप्ताः ॥ २० ॥

प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ॥ २१ ॥

जिसके खुश होने से कुछ लाभ नहीं और क्रोध करने से कोई हानि नहीं, उसको लोग स्वामी बनाना नहीं चाहते जैसे नपुंसक को स्त्रियां पति बनाना नहीं चाहतीं ॥ २१ ॥

कांश्चिदर्थान्नरः प्राज्ञो लघुमूलान्महाफलान् ।
क्षिप्रमारभते कर्तुं न विघ्नयति तादृशान् ॥ २२ ॥

जिनके जड़ कम हों अर्थात जिन्हें करने में आसानी हो और फल अधिक हों उन कामों को बुद्धिमान् मनुष्य शीघ्र प्रारम्भ कर दे; उनमें देरी न करे ॥ २२ ॥

ऋजु पश्यति यः सर्वं चक्षुषानुपिबन्निव ।
आसीनमपि तूष्णीकमनुरज्यन्ति तं प्रजाः ॥ २३ ॥

जो राजा नेत्र से पीते हुए के समान सब लोगों को प्रेमपूर्वक देखता है, चुपचाप बैठे हुए भी ऐसे राजा में सब प्रजा अनुरक्त रहती हैं ॥ २३ ॥

सुपुष्पितः स्यादफलः फलितः स्याद् दुरारुहः ।
अपक्वः पक्वसंकाशो न तु शीर्यति कर्हिचित् ॥ २४ ॥

कोई खूब अच्छी तरह फूलों से युक्त होकर भी फल से हीन रहता है, कोई पेड़ फल से युक्त होकर भी मुश्किल से चढ़ने पर फल लेने योग्य होता है और बिना पका हुआ भी कोई फल पके हुए के समान रहता है वह कभी नष्ट नहीं होता किन्तु उसको सभी चाहते हैं; उसी

लघुमूलान् अल्पोपायान् ॥२२॥ चक्षुषा प्रीतिमयेन ॥२३॥ सुपुष्पितः वाचा चक्षुषा चानुग्रहं दर्शयन्नपि अफलः स्यात्, भृत्यं न धनेन वर्धयेत् । सफलोऽपि सन् दुरारुहः भृत्यवश्यो न भवेत् । अपक्व इति । अन्तर्बलहीनोऽपि बलवत्तां बहिः प्रकाशयेदेवेत्यर्थः ॥ २४ ॥

तरह कोई मीठी २ बातों को तो करते हैं, किन्तु धनादि नहीं देते, कोई खुश होकर धन को तो देते हैं, किन्तु मुश्किल से खुश होते हैं और कोई स्वयं निर्बल होकर भी बाहर से बलवान् के समान रहते हैं; वे कभी दुःखी नहीं होते अर्थात् धन से भृत्य को न बढ़ावे, भृत्य के वश में न होवे और अपने में बल का प्रकाशन करता रहे ॥ २४ ॥

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम् ।
प्रसादयति यो लोकं तं लोकोऽनुप्रसीदति ॥ २५ ॥

देखने से, मन से, बोलने से और काम से जो लोगों को खुश करता है; इस पर लोग भी खुश रहते हैं ॥२५॥

यस्मात् त्रस्यन्ति भूतानि मृगव्याधान्मृगा इव ।
सागरान्तामपि महीं लब्ध्वा स परिहीयते ॥२६॥

व्याधों से मृगों के समान जिससे सब प्राणी डरते हैं, वह समुद्र तक पृथ्वी को पाकर भी नष्ट हो जाता है ॥२६॥

पितृपैतामहं राज्यं प्राप्तवान्स्वेन कर्मणा ।
वायुरभ्रमिवासाद्य भ्रंशयत्यनये स्थितः ॥२७॥

अपने पहले जन्म के कर्मों से बाप दादा के राज्य को पाकर अनीति पर रहने वाला मनुष्य हवा को पाये हुए मेघ के या आकाश पर चढ़े बायु के समान नष्ट हो जाता है ॥२७॥

धर्ममाचरतो राज्ञः सद्भिश्चरितमादितः ।
वसुधा वसुसम्पूर्णा वर्धते भूतिवर्धनी ॥२८॥

सज्जनों से आचरित धर्म को पहले ही से करने वाले राजा को धन से भरपूर और ऐश्वर्य्य को बढ़ाने वाली पृथ्वी बढ़ती है ॥२८॥

कर्मणा दानेन । लोकं भृत्यवर्गम् ॥२५॥ अनये स्थितः अनीतिमान् ॥२७॥

अथ सन्त्यजतो धर्ममधर्मं चानुतिष्ठतः ।
प्रतिसंवेष्टते भूमिरग्नौ चर्माहितं यथा ॥२९॥

और धर्म को छोड़ते तथा अधर्म को करते हुए राजा की पृथ्वी आग में डाले हुए चमड़े की तरह सिकुड़ती है अर्थात् घटती है ॥२९॥

य एव यत्नः क्रियते परराष्ट्रविमर्दने ।
स एव यत्नः कर्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने ॥३०॥

जो उपाय शत्रु के राज्य को नष्ट करने में किया जाता है, वही उपाय अपने राज्य की रक्षा करने में भी करना चाहिये ॥३०॥

धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत् ।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ॥३१॥

मनुष्य धर्म से राज्य को पावे और धर्म से राज्य का पालन करे। धर्ममूलक लक्ष्मी को पाकर बाद लक्ष्मी उस मनुष्य को नहीं छोड़ती और मनुष्य भी लक्ष्मी को नहीं छोड़ता ॥३१॥

अप्युन्मत्तात्प्रलपतो बालाच्च परिजल्पतः ।
सर्वतः सारमादद्यादश्मभ्य इव काञ्चनम् ॥३२॥

प्रलाप करते हुये पागल से और व्यर्थ बोलते हुए बालक से, सबसे सारभूत बात को पत्थर से सोना की तरह ग्रहण[1] करना चाहिए ॥३२॥

सुव्याहृतानि सूक्तानि सुकृतानि ततस्ततः ।
सञ्चिन्वन् धीर आसीत शिलाहारी शिलं यथा ॥३३॥

प्रतिसंवेष्टते संकुचति बहुफलं न प्रयच्छतीत्यर्थः ॥ २९ ॥ न जहाति श्रियम् ॥ ३१ ॥ सुव्याहृतानि पाण्डित्यवचनानि । सूक्तानि शोभनतया उक्तानि मातृ-

---

१ सोने की खानों से पत्थर के चट्टानों को लाकर उन्हें वैज्ञानिक क्रिया द्वारा गलाकर उनसे सोना निकाला जाता है। वैसे ही यदि बालक या पागल के कहने में भी कोई सारभूत बात हो तो उसे ग्रहण करना चाहिये ॥

धीर पुरुष इधर उधर से अच्छी तरह कहे हुए हितकारी सूक्तों (सज्जनोक्तियों) को वैसे ही बटोरता हुआ स्थित होवे जैसे दाने-दाने को बिन कर जीवन चलाने वाला एक २ दाने को बिनता है ॥ ३३ ॥

गन्धेन गावः पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः ।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥३४॥

गौ गन्ध से देखती है, ब्राह्मण वेद से देखते हैं, राजा दूतों के द्वारा देखते हैं और अन्य लोग दोनों आँख से देखते हैं ॥ ३४ ॥

भूयांसं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा ।
अथ या सुदुहा राजन्नैव तां वितुदन्त्यपि ॥ ३५ ॥

जो दुःख से दूही जानेवाली अर्थात् दूहने के समय लात इत्यादि चलाने वाली है वह गौ बहुत दुःख पाती है और जो सुखपूर्वक दुही जाने वाली है उसे हे राजन् ! कोई पीड़ा नहीं देते ॥ ३५ ॥

यदतप्तं प्रणमति न तत्सन्तापयन्त्यपि ।
यच्च स्वयं नतं दारु न तत्सन्तापयन्त्यपि ॥ ३६ ॥

जो बिना तपाये नम्र हो जाता है उसे कोई नहीं तपाते, जो लकड़ी स्वयं नम्र हो जाती है, उसे कोई नहीं तपाता। इसी तरह जो मनुष्य विना दुःख दिये स्वयं नम्र हो जाता है, उसे कोई दुःख नहीं देता और जो स्वयं नम्र नहीं होता उसे लोग दुःख देकर नम्र करते हैं ॥ ३६ ॥

पितृगुर्वादीनाम् । सुकृतानि तदुपदिष्टकर्माणि । शिलं कणिशाद्यर्जनम् । 'उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्' इति यादवः । त्वमपि अस्मदादिवाक्यात् सारं गृह्णीष्वेति भावः ॥ ३३ ॥ गन्धेनेति–पाण्डवबलं ज्ञातुं चारान् नियुंक्ष्वेति भावः॥३४॥ भूयांसमिति श्लोकत्रयतात्पर्यं पाण्डवान् प्रति त्वया नम्रीभवितव्यम् । तेन बलाधिष्ठात्री देवता इन्द्रश्च त्वामनुग्रहीष्यतीति ॥ ३५ ॥

एतयोपमया धीरः सन्नमेत बलीयसे ।
इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे ॥ ३७ ॥

बुद्धिमान् जन को इसी उदाहरण से बलवान् के आगे नम्र हो जाना चाहिये, जो बलवान् के आगे नम्र होता है वह इन्द्र को प्रणाम करता है ॥ ३७ ॥

पर्जन्यनाथाः पशवो राजानो मन्त्रिबान्धवाः ।
पतयो बान्धवाः स्त्रीणां ब्राह्मणा वेदबान्धवाः ॥३८॥

पशुओं का पालक मेघ है, राजाओं का बन्धु मन्त्री है, स्त्रियों का बन्धु पति है और ब्राह्मणों का बन्धु वेद है ॥ ३८ ॥

सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते ।
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ॥ ३९ ॥

सत्य से धर्म की रक्षा की जाती है, योग (मनन-अनुशीलन अध्यापना आदि अभ्यास) से विद्या की रक्षा की जाती है, मार्जन (तेल, उबटन इत्यादि के लगाने) से रूप की रक्षा की जाती है और सदाचार से खान्दान की रक्षा की जाती है ॥ ३९ ॥

मानेन रक्ष्यते धान्यमश्वान् रक्षत्यनुक्रमः ।
अभीक्ष्णदर्शनं गाश्च स्त्रियो रक्ष्याः कुचेलतः ॥४०॥

मान (तौलना, नापना इत्यादि) से धान्य की रक्षा की जाती है, टहलाने और फेरने से घोड़ों की रक्षा की जाती है, बारम्बार देख भाल करने से गौओं की रक्षा की जाती है, मलिन तथा निन्दित कपड़ों से स्त्रियों की रक्षा की जाती है ॥ ४० ॥

एतच्च मन्त्रिभिः सह आलोचनीयं सत्यं संरक्ष्यमित्याह पर्जन्येति त्रिभिः ॥३८॥ योगेन अभ्यासेन । मृजया उद्वर्तनेन ॥३९॥ अनुक्रमः व्यायामशिक्षादिः ॥४०॥

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः।
अन्तेष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते ॥ ४१ ॥

आचारहीन मनुष्य का कुल ठीक नहीं है यह मेरी राय (सिद्धान्त) है, अन्त कुल (चाण्डाल इत्यादि नीच वंश) में उत्पन्न मनुष्य का भी आचरण ही विशिष्ट (श्रेष्ठ) होता है ॥ ४१ ॥

य ईर्षुः परवित्तेषु रूपे वीर्ये कुलान्वये।
सुखसौभाग्यसत्कारे तस्य व्याधिरनन्तकः ॥ ४२ ॥

जो दूसरे के धन, रूप, पराक्रम, वंश, सुख, सौभाग्य और सत्कार पर ईर्ष्या करता है उसके दुःख का अन्त नहीं है ॥ ४२ ॥

अकार्यकारणाद्भीतः कार्याणां च विवर्जनात्।
अकाले मन्त्रभेदाच्च येन माद्येन्न तत्पिबेत् ॥ ४३ ॥

नहीं करने योग्य काम को करने से, करने योग्य काम को नहीं करने से, और सलाह का असमय में (काम सिद्ध होने के पहले) फूट जाने से डरे और जिससे मद हो उसे न पीये ॥ ४३ ॥

विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः।
मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः ॥४४॥

विद्या का मद, धन का मद और अभिजन (परिवार तथा नौकर इत्यादि) का मद ये अहङ्कारियों के तीन मद होते हैं और सज्जनों के येही तीन दम होते हैं अर्थात् विद्यादि को पाकर अभिमानी लोग अभिमान करते हैं और सज्जन सुजनता को करते हैं ॥ ४४ ॥

प्रमाणं धर्मस्य कारणं न कुलमिति द्वयोर्वृत्तमाश्रयईर्ष्यां त्यजेति भावः ॥४१॥ अकाले इष्टसिद्धेः प्राग् भीतः स्यात्। येन माद्येत् लोभादिना। तन्न पिबेत् नाश्रयेत् ॥ ४३ ॥ अभिमानः सहायः। तव तु मयं दमश्च नास्तीत्यर्थः ॥४४॥

असन्तोऽभ्यर्थिताः सद्भिः क्वचित्कार्ये कदाचन ।
तावन्न तस्य सुकृतं किञ्चित्कार्ये कदाचन ।
मन्यन्ते सन्तमात्मानमसन्तमपि विश्रुतम् ॥४५॥

किसी समय सज्जन के किसी सुकृत को नहीं करने वाला भी दुर्जन अपने दुष्ट आत्मा को भी विख्यात तथा अच्छा मानता है ॥४५॥

गतिरात्मवतां सन्तः सन्त एव सतां गतिः ।
असतां च गतिः सन्तो न त्वसन्तः सतां गतिः ॥४६॥

ज्ञानियों की गति सज्जन हैं, सज्जनों की गति सज्जन ही हैं, दुर्जनों की गति सज्जन हैं और सज्जनों की गति दुष्ट नहीं हैं अर्थात् सब लोगों की गति सज्जन ही हैं ॥ ४६ ॥

जिता सभा वस्त्रवता मिष्टाशा गोमता जिता ।
अध्वा जितो यानवता सर्वं शीलवता जितम् ॥४७॥

सुन्दर २ कपड़ा पहनने वाले सभा को जीत लिये हैं, गौ पालने वाले मधुर २ पदार्थ की चाहना को जीत लिये हैं, सवारी रखने वाले रास्ते को जीत लिये और सुशील वाले सबको जीत लिये हैं ॥ ४७ ॥

शीलं प्रधानं पुरुषे तद्यस्येह प्रणश्यति ।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बन्धुभिः ॥४८॥

पुरुष में शील ही प्रधान है, इस संसार में जिसका शील नष्ट हो गया उसके जीने से, धन से और परिवार वालों से कुछ भी प्रयोजन नहीं है ॥ ४८ ॥

असन्त इति सार्द्धश्लोको वाक्यं सद्भिरर्थिता असन्तस्तत्कार्यमल्पमपि अकृत्वा असन्तमिति ख्यातमपि आत्मानं सन्तं मन्यन्त इति तदर्थः । किञ्चिदपि तस्य कार्यं यावत् सुष्ठु न कृतं तावदेव मन्यन्ते, इति योजना ॥ ४५ ॥ गतिरिति-पाण्डवा एव त्वामुपकरिष्यन्ति न तु त्वं तानिति भावः ॥ ४६ ॥ जितेति-

आढ्यानां मांसपरमं मध्यानां गोरसोत्तरम् ।
तैलोत्तरं दरिद्राणां भोजनं भरतर्षभ ॥ ४९ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! बड़े २ धनियों का भोजन अधिक मांस युक्त होता है, मध्यम श्रेणीवालों का भोजन अधिक दूध दही घी इत्यादि गोरस से युक्त होता है और दरिद्रों का भोजन अधिक तैल से युक्त होता है ॥४९॥

सम्पन्नतरमेवान्नं दरिद्रा भुञ्जते सदा ।
क्षुत्स्वादुतां जनयति सा चाढ्येषु सुदुर्लभा ॥ ५० ॥

दरिद्र लोग अन्न को ही अत्यन्त मधुरतापूर्वक भोजन करते हैं, वह भूख जो स्वाद होता है वह स्वाद धनियों को एकदम दुर्लभ है ॥५०॥

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते ।
जीर्यन्त्यपि हि काष्ठानि दरिद्राणां महीपते ॥ ५१ ॥

हे राजन् ! संसार में धनियों को प्रायः भोजन करने का सामर्थ्य ही नहीं होता और दरिद्रों को तो काष्ठ भी पच जाता है ॥ ५१ ॥

अवृत्तिर्भयमन्त्यानां मध्यानां मरणाद्भयम् ।
उत्तमानां तु मर्त्यानामवमानात्परं भयम् ॥ ५२ ॥

दरिद्र या नीचों को जीविका नहीं मिलने का डर होता है, मध्यम श्रेणीवालों को मरने से डर होता है और उत्तम मनुष्यों को तो अपमान से बहुत भारी डर होता है ॥ ५२ ॥

ऐश्वर्यमदपापिष्ठा मदाः पानमदादयः ।
ऐश्वर्यमदमत्तो हि नापतित्वा विबुध्यते ॥ ५३ ॥

शीलं संरक्ष्यं त्वयेति द्वयोर्भावः ॥ ४७ ॥ आढ्यानामिति त्रयस्य शीलवतस्त दारिद्र्यप्राप्तिरपि श्रेय इति भावः ॥ ४९ ॥ सम्पन्नं मिष्टम् ॥ ५० ॥ शीलभावे सत्सु अवमानो महान् क्लेश इत्याह–अवृत्तिरिति ॥ ५२ ॥ ऐश्वर्यमदः पापिष्ठा

बहुत मदिरा आदि पीने के मदों में ऐश्वर्य पाने का मद खराब है, क्योंकि—ऐश्वर्य मद से मतवाला मनुष्य विना गिरे अर्थात् ऐश्वर्य से हीन (दरिद्र) हुए नहीं उठता (चेतता) है ॥ ५३ ॥

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु वर्तमानैरनिग्रहैः ।
तैरयं ताप्यते लोको नक्षत्राणि ग्रहैरिव ॥ ५४ ॥

इन्द्रियों के विषयों में (रूप-शब्द-स्पर्श-रस-गन्ध) में बेरोकटोक चलनेवाली इन्द्रियों से यह संसार, सूर्यादि उग्र ग्रहों से नक्षत्र जैसा पीडित होता है ॥ ५४ ॥

यो जितः पञ्चवर्गेण सहजेनात्मकर्षिणा ।
आपदस्तस्य वर्धन्ते शुक्लपक्ष इवोडुराट् ॥ ५५ ॥

स्वभावतः अपने तरफ खीचने वाले पाचों इन्द्रियों (कान, नाक, नेत्र, रसना और त्वचा) से जो जीता गया है, शुक्लपक्ष में चन्द्रमा की तरह उसकी आपत्तियाँ बढ़ती हैं ॥ ५५ ॥

अविजित्य यथात्मानममात्यान् विजिगीषते ।
अमित्रान्वाजितामात्यः सोऽवशः परिहीयते ॥ ५६ ॥

जो अपने आत्मा को विना जीते ही मन्त्रियों और वैरियों को जीतना चाहता है, उनको नहीं जीत सकने वाला वह निराश्र होकर पदभ्रष्ट हो जाता है ॥ ५६ ॥

आत्मानमेव प्रथमं द्वेष्यरूपेण योजयेत् ।
ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते ॥ ५७ ॥

निन्दिततमो येभ्यस्ते पानमदादयो मदाः ॥ ५३ ॥ इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु ग्रहैः सूर्यादिभिः आक्रमो अत्र तापनम् ॥ ५४ ॥ पञ्चवर्गः श्रोत्रादिगणः । त्वमैश्वर्यमत्तोऽजितेन्द्रियश्च अवश्यमापदं प्राप्स्यसीति त्रयस्य भावः ॥ ५५ ॥ आत्मानं मनः । अमात्यान् पुत्रादीन् । द्वेष्यरूपेण शत्रुवत् । मन एव प्रथमं जेतव्यं ततः अमात्यादीन् विजिगीषते तत् न मोघं न निष्फलं भवति ॥ ५७ ॥

पहले आत्मा को वैरीरूप से युक्त करे अर्थात् शत्रु समझ कर जीत ले, बाद अमात्य को और फिर वैरी को वैसा समझ कर जीते; तब उसके जीतने की इच्छा निष्फल नहीं होती ॥ ५७ ॥

वश्येन्द्रियं जितात्मानं धृतदण्डं विकारिषु।
परीक्ष्यकारिणं धीरमत्यन्तं श्रीर्निषेवते ॥ ५८ ॥

इन्द्रियों को वश में करने वाले, आत्मा को जीते हुए, विकार उत्पन्न करनेवालों को दण्ड देनेवाले, किसी काम को जाँच (सोच विचार) कर करनेवाले और धीर पुरुष को लक्ष्मी अधिक सेवा करती है ॥ ५८ ॥

रथः शरीरं पुरुषस्य राजन्नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वैर्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥ ५९ ॥

हे राजन्! मनुष्य का शरीर रथ है, आत्मा सारथि है और इन्द्रियाँ घोड़े हैं। सावधान, चतुर और धीर पुरुष वश में किये हुए उन इन्द्रियों से सुखपूर्वक वैसे जाता (समय बिताता) है, जैसे सचेत, चतुर और धीर स्वभाव वाला सारथि अच्छी तरह सिखलाये हुए और अच्छे घोड़ों से जाता है ॥ ५९ ॥

एतान्यनिगृहीतानि व्यापादयितुमप्यलम्।
अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ॥ ६० ॥

बिना वश में की हुई यह इन्द्रियाँ मनुष्य को मारने में भी वैसे समर्थ हैं, जैसे बिना सिखलाये और वश में किये हुए घोड़े अयोग्य सारथि को रास्ते में मार डालते हैं ॥ ६० ॥

अनर्थमर्थतः पश्यन्नर्थं चैवाप्यनर्थतः।
इन्द्रियैरजितैर्बालः सुदुःखं मन्यते सुखम् ॥ ६१ ॥

त्वं तु अजितमनस्कतया पुत्रादिवशो न लक्ष्मीयोग्य इति त्रयाणां भावः ॥५८॥ एतदेव रथिरथादिरूपककल्पनया आह–रथ इति ॥ ५९ ॥ व्यापादयितुं नाशयितुम्। अविधेयाः अवशाः ॥६०॥ अर्थतः अर्थहेतोः। अनर्थतः अन्यायतः ॥६१॥

इन्द्रियों को वश में नहीं करनेवाला मूर्ख मनुष्य अर्थ को अनर्थ, अनर्थ को अर्थ देखता हुआ दुःख को भी सुख मानता है अर्थात् बुरे कामों को अच्छा, अच्छे कामों को बुरा समझ जिनसे दुःख होनेवाला है उन्हीं कामों को सुखकर समझता है ॥ ६१ ॥

धर्मार्थौ यः परित्यज्य स्यादिन्द्रियवशानुगः ।
श्रीप्राणधनदारेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ॥ ६२ ॥

जो धर्म और अर्थ को छोड़कर इन्द्रियों के वश में हो गया है, वह श्री (शोभा), प्राण, धन और स्त्री से शीघ्र ही हीन हो जाता है ॥६२॥

अर्थानामीश्वरो यः स्यादिन्द्रियाणामनीश्वरः ।
इन्द्रियाणामनैश्वर्यादैश्वर्याद् भ्रश्यते हि सः ॥ ६३ ॥

जो अर्थों का स्वामी है, और इन्द्रियों का स्वामी नहीं है अर्थात् इन्द्रियों को वश में नहीं किया है, वह इन्द्रियों को वश में नहीं करने के कारण ऐश्वर्य से शीघ्र ही भ्रष्ट होता है ॥ ६३ ॥

आत्मनात्मानमन्विच्छेन्मनोबुद्धीन्द्रियैर्यतैः ।
आत्मा ह्येवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ६४ ॥

वश में किये हुए मन, बुद्धि और इन्द्रियों से आत्मा द्वारा आत्मा को वश में करे, क्योंकि—आत्मा ही अपना बन्धु है और आत्मा ही अपना वैरी है ॥ ६४ ॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मात्मना जितः ।
स एव नियतो बन्धुः स एव नियतो रिपुः ॥ ६५ ॥

इन्द्रियाणां वश इच्छा तदनुसारी इन्द्रियवशानुगः ॥६२॥ कृत्स्नस्य उपदेशस्य फलमाह—आत्मनेत्यर्द्धेन । आत्मना बुद्धया आत्मानं प्रत्यक् चैतन्यरूपं अन्विच्छेत् । तत्रोपायमाह—मनसः सङ्कल्पात्मकस्य बुद्धेश्च तन्मूलभूतायाः इन्द्रियाणां च निग्रहेणेत्यर्थः। अत्र न तव सहायान्तरापेक्षेत्याह्यात्मेति । धीजय एव पुरुषार्थ इत्यर्थः। ॥ ६४ ॥ स एव धीरेव जीवस्य बन्धुः रिपुश्च ॥ ६५ ॥

जिस आत्मा ने आत्मा को जीत लिया है, उस आत्मा का वही आत्मा बन्धु है (और जो नहीं जीता गया है, वही वैरी है) अतएव आत्मा ही नियत बन्धु है और आत्मा ही नियत वैरी है ॥ ६५ ॥

क्षुद्राक्षेणैव जालेन झषावपिहितावुरू।
कामश्च राजन् क्रोधश्च तौ प्रज्ञानं विलुम्पतः ॥ ६६ ॥

हे राजन् ! जिस तरह बड़ी २ दो मछलियाँ जाल में बझकर थोड़े से छिद्र कर जाल को काट नष्ट कर देती हैं उसी तरह काम और क्रोध ये दोनों बुद्धि में थोड़ा सा भी विकार पैदा कर उत्तम ज्ञान को भी नष्ट कर देते हैं ॥ ६६ ॥

समवेक्ष्येह धर्मार्थौ सम्भारान् योऽधिगच्छति।
स वै सम्भृतसम्भारः सततं सुखमेधते ॥ ६७ ॥

इस संसार में जो पुरुष धर्म अर्थ को देखकर साधनों को ग्रहण करता है, साधनों को संग्रह करनेवाला वह पुरुष सर्वदा सुखपूर्वक वृद्धि को पाता है ॥ ६७ ॥

यः पञ्चाभ्यन्तराञ्शत्रूनविजित्य मनोमयान्।
जिगीषति रिपूनन्यान् रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥ ६८ ॥

जो मन है मुख्य जिनके ऐसे भीतर के पांच वैरियों (पांच इन्द्रियों, नेत्र, कान, जीभ, त्वचा और नाक) को विना जीते हुए दूसरे बाहरी वैरियों को जीतना चाहता है उसको वे शत्रु ही जीत लेते हैं ॥ ६८ ॥

द्वावपि मोहजाल पिहितौ। झषौ मीनौ। उरू महान्तौ। तत्र द्वितीयोऽन्यस्य जातिस्वभावाच्छत्रुरपि जालच्छेदार्थं मित्रत्वमापन्नो बन्धुरपि भवति। एवं धीश्चिदात्मनः संसारप्रदत्वाच्छत्रुरपि मोहच्छेदार्थं तस्य मित्रमपि भवतीति भावः। क्षुद्राक्षेण सूक्ष्मछिद्रेण। यद्वा उत्तरान्वय्येवायमर्थः। कामक्रोधयोरावरकं प्रज्ञानं तौ नाशयतः जालमिव महामीनावित्यर्थः ॥ ६६ ॥ समवेक्ष्य अनुरुध्य। सम्भारान् जयसाधनानि ॥ ६७ ॥ आभ्यन्तरान् श्रोत्रादीन् मनोमयान्। मनसो विकारभूतान्। तथा च श्रुतिः। 'मनसा ह्येव पश्यन्ति मनसा शृणोति, इति ॥ ६८ ॥

दृश्यन्ते हि महात्मानो बध्यमानाः स्वकर्मभिः ।
इन्द्रियाणामनीशत्वाद्राजानो राज्यविभ्रमैः ॥ ६९ ॥

जैसे अपने कर्मों के द्वारा बँधे हुए महात्मा लोग दीख पड़ते हैं, उसी तरह इन्द्रियों को वश में नहीं करने से राज्य के विभ्रम (विलास) के द्वारा बँधे हुए राजा लोग दीख पड़ते हैं ॥ ६९ ॥

असन्त्यागात्पापकृतामपापां-
स्तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात् ।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावा-
त्तस्मात्पापैः सह सन्धिं न कुर्यात् ॥ ७० ॥

पापियों का संग न छोड़कर उनका साथ करने से पाप से रहित लोगों को भी दण्ड स्पर्श कर लेता है अर्थात् निरपराधियों को भी दण्ड भोगना पड़ता है, जैसे सूखी लकड़ी के साथ गीली (भीगें, रसदार) लकड़ी आदि भी जल जाती है, इस कारण पापियों का साथ नहीं करना चाहिये ॥ ७० ॥

निजानुत्पततः शत्रून्पञ्च पञ्चप्रयोजनान् ।
यो मोहान्न निगृह्णाति तमापद् ग्रसते नरम् ॥ ७१ ॥

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पाँच प्रयोजन (विषय) वाले, अपने में वर्तमान और बढ़नेवाले पांच इन्द्रिय रूप (नेत्र, जीभ, नाक, त्वचा और कान) पांच शत्रुओं को जो मोहवश वश में नहीं करता है; उस मनुष्य को आपत्ति जकड़ लेती है ॥ ७१ ॥

राजानो रावणादयः । राज्यविभ्रमैः ऐश्वर्यविलासैः स्वकर्मभिः सीताहरणादिभिः ॥ ६९ ॥ पञ्च इन्द्रियाणि पञ्चप्रयोजनानि शब्दश्रवणादीनि येषां तान् । उत्पततः उत्पथेन गच्छतः । त्वं तु अजितचित्तत्वाद् दुःसङ्गाच्चापद्ग्रस्तोऽसीति भावः ॥ ७१ ॥

अनसूयार्जवं शौचं सन्तोषः प्रियवादिता।
दमः सत्यमनायासो न भवन्ति दुरात्मनाम् ॥ ७२ ॥

दूसरों के गुणों में ईर्ष्या न करना, मृदु स्वभाव, पवित्रता, सन्तोष, मधुर बोलना, इन्द्रियों को दमन करना, सत्य बोलना, और स्थैर्य्य (धैर्य्य) रखना ये सब गुण दुष्टों के नहीं होते हैं ॥ ७२ ॥

आत्मज्ञानमनायासस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
वाक् चैव गुप्ता दानं च नैतान्यन्त्येषु भारत ॥ ७३ ॥

हे भारत ! आत्मज्ञान, स्थिरता, क्षमा, सदा धर्मपर स्थिर रहना, गुप्त भाषण और गुप्त दान ये गुण नीचों में नहीं होते हैं ॥ ७३ ॥

आक्रोशपरिवादाभ्यां विहिंसन्त्यबुधा बुधान्।
वक्ता पापमुपादत्ते क्षममाणो विमुच्यते ॥ ७४ ॥

मूर्ख लोग कटु वचनों से और निन्दा से विद्वानों की हिंसा करते हैं, किन्तु बोलनेवाला (मूर्ख) पाप को पाता है और क्षमा करनेवाला (विद्वान्) उससे छुट जाता है ॥ ७४ ॥

हिंसा बलमसाधूनां राज्ञां दण्डविधिर्बलम्।
शुश्रूषा तु बलं स्त्रीणां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ७५ ॥

दुष्टों का बल हिंसा करना है, राजाओं का बल दण्ड देना है, स्त्रियों का बल सेवा करना है और गुणियों का बल क्षमा करना है ॥ ७५ ॥

अनायासः अचाञ्चल्यम् ॥ ७२ ॥ तितिक्षा द्वन्द्वसहनशीलता। वाक्गुप्ता असम्बद्धप्रलापाद्रक्षिता । अन्त्येषु नीचेषु त्वत्पुत्रेष्वार्जवादिकं गुप्तवाक्त्वं च नास्तीति तेऽन्त्याः ॥ ७३ ॥ आक्रोशो रूक्षभाषणं परिवादो निन्दा तयोर्वक्ता त्वत्पुत्रः हिंस्रश्चातो नासौ जयभाक् ॥ ७४ ॥

वाक्संयमो हि नृपते ! सुदुष्करतमो मतः ।
अर्थवच्च विचित्रं च न शक्यं बहुभाषितुम् ॥ ७६ ॥

हे नृपते ! संसार में वाक्संयम (बात को सोच विचार कर प्रिय और परिमित बोलना) बहुत कठिन काम माना गया है, अर्थ-युक्त और विचित्र वचन बहुत नहीं कहा जा सकता है ॥ ७६ ॥

अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक् सुभाषिता ।
सैव दुर्भाषिता राजन्ननर्थायोपपद्यते ॥ ७७ ॥

सुभाषित (प्रेम सहित अच्छी तरह कहा हुआ) वचन अनेक तरह के कल्याण को करता है, दुर्भाषित (कठोरता से कहा हुआ) वही वचन अनर्थ के लिये होता है ॥ ७७ ॥

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥ ७८ ॥

बाण से छिदा हुआ शरीर भरकर ठीक हो जाता है और परशु (कुल्हाड़ी) से काटा हुआ वन फिर से पनप जाता है, किन्तु कटु कथन रूप वचन का भयङ्कर घाव अच्छा नहीं होता है ॥ ७८ ॥

कर्णिनालीकनाराचान् निर्हरन्ति शरीरतः ।
वाक्शल्यस्तु न निर्हतुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥७९॥

कर्णी, (बाण) नालीक (बन्दूक का छर्रा या गोली) नाराच (संपूर्ण लोहे का बना बाण) लगने पर ये शरीर से निकाले जा सकते हैं; किन्तु वचनरूपी बाण नहीं निकाला जा सकता; क्योंकि यह हृदय में घुसा रहता है ॥ ७९ ॥

वाक्संयमो नियतं वचनं विचित्रं चमत्कारयुक्तम् ॥ ७६ ॥ बीभत्सं निन्दितं यतो न संरोहति ॥७८॥ कर्णी कर्णाकृतिफलको बाणः। नालीकः नलिकया प्रक्षेप्यो बाणः । निर्हरन्ति निःसारयन्ति ॥ ७९ ॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य नाममर्मसु ते पतन्ति तान्पण्डितो नावसृजेत्परेभ्यः ॥८०॥

वचन रूपी बाण मुख से निकलते हैं; जिनसे विद्ध (मारा हुआ) मनुष्य रात दिन सोच करता रहता है और वे बाण दूसरे के मर्म-स्थान से अतिरिक्त जगह पर नहीं गिरते हैं; किन्तु मर्मस्थानों में ही गिरते हैं अतएव विद्वान् पुरुष उन्हें (कटु वचनों को) किसी के प्रति प्रयोग नहीं करना चाहते ॥ ८० ॥

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम्।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥ ८१ ॥

देवता लोग जिस पुरुष के लिये पराभव को देते हैं, उसकी बुद्धि को हर लेते हैं फिर वह नीच कर्मों को नीच नहीं समझता ॥ ८१ ॥

बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते।
अनयो नयसङ्काशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ८२ ॥

विनाश के उपस्थित होने पर, बुद्धि के मलिन हो जाने पर हृदय से नीति की तरह अनीति नहीं दूर होती है अर्थात् जिसका नाश होने का समय समीप आ जाता है, उस समय उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और वह पुरुष अनीति को ही करता है, नीति को नहीं ॥ ८२ ॥

सेयं बुद्धिः परीता ते पुत्राणां भरतर्षभ।
पाण्डवानां विरोधेन न चैनामवबुध्यसे ॥ ८३ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! वही बुद्धि पाण्डवों के साथ विरोध करने से तुम्हारे पुत्रों की हो रही है, तुम उसे समझते नहीं हो ॥ ८३ ॥

नाममर्मसु किन्तु मर्मस्वेव। सभायां द्रौपदीं प्रति दुर्वचनं वदतां त्वत्पुत्राणामपराधः क्षन्तुमयोग्योऽस्तीति भावः ॥ ८० ॥ अवाचीनानि नीचकर्माणि ॥ ८१ ॥

राजा लक्षणसम्पन्नस्त्रैलोक्यस्यापि यो भवेत् ।
शिष्यस्ते शासिता सोऽस्तु धृतराष्ट्र ! युधिष्ठिरः ॥ ८४ ॥

हे धृतराष्ट्र ! जिसके लक्षण अच्छे होते हैं, वह तीनों लोक का भी राजा हो सकता है। अतः तुम्हारा शिष्य युधिष्ठिर इस राज्य का शासन करने वाला हो ॥ ८४ ॥

अतीव सर्वान् पुत्रांस्ते भागधेयपुरस्कृतः ।
तेजसा प्रज्ञया चैव युक्तो धर्मार्थतत्त्ववित् ॥ ८५ ॥

तेज और बुद्धि युक्त तथा धर्म और अर्थ के तत्त्व को जानने वाला वह युधिष्ठिर तुम्हारे सब लडकों में प्रधान हिस्सादार हो अर्थात् उसी को राज्य दिया जावे ॥ ८५ ॥

अनुक्रोशादानृशंस्याद्योऽसौ धर्मभृतां वरः ।
गौरवात्तव राजेन्द्र ! बहून् क्लेशांस्तितिक्षति ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहाभारते प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये
चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥ [२]

हे राजेन्द्र ! धर्म्मात्माओं में श्रेष्ठ जो वह युधिष्ठिर दया और अक्रूरता के कारण आपके गौरव से अनेक क्लेशों को सह रहे हैं वही राजा होवें ॥ ८६ ॥

इति श्री महाभारते प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये व्या. आ.
'विद्यारत्न' पं० माधवप्रसादव्यासेन कृतायां भाषाटीकायां
(द्वितीयोऽ) चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

शिष्यस्ते त्वदाज्ञाकारी । शासिता पृथिव्याः ॥ ८४ ॥ भागधेये राज्यांशे पुरस्कृतः । मूर्धाभिषिक्तस्य पाण्डोः पुत्रास्ते राज्यार्हाः । अतथाभूतस्यान्धस्य तव पुत्रास्ते न राज्यार्हाः इत्यर्थः ॥ ८५ ॥ अनुक्रोशात् दयालुत्वात् । आनृशंस्यात् अक्रौर्यात् ॥ ८६ ॥

(३)—अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

धृतराष्ट्र उवाच।

ब्रूहि भूयो महाबुद्धे! धर्मार्थसहितं वचः।
शृण्वतो नास्ति मे तृप्तिर्विचित्राणीह भाषसे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र ने विदुरजी से कहा हे महाबुद्धे! धर्म और अर्थ युक्त वचन और कहिये। क्योंकि आपके वचन विचित्र से मालूम होते हैं इसलिये सुनने से तृप्ति नहीं होती है ॥ १ ॥

विदुर उवाच।

सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
उभे त्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते ॥ २ ॥

विदुर जी बोले—समस्त तीर्थों में स्नान करना और समस्त जीवों पर दया (समान भाव) करना, ये दोनों समान कहे गये हैं अथवा इन दोनों में प्राणिमात्र पर दया करना श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

आर्जवं प्रतिपद्यस्व पुत्रेषु सततं विभो!।
इह कीर्तिं परां प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्स्यसि ॥ ३ ॥

हे विभो! पुत्रों (कौरव और पाण्डव) में सदा समान भाव को करिये। ऐसा करने से इस लोक में उत्तम यश को प्राप्त कर परलोक में जाकर स्वर्ग को प्राप्त करोगे ॥ ३ ॥

यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य पुण्या लोके प्रगीयते।
तावत्स पुरुषव्याघ्र! स्वर्गलोके महीयते ॥ ४ ॥

आर्जवं अवैषम्यम् ॥ २ ॥

जब तक संसार में मनुष्य की कीर्ति का अच्छी तरह गान किया जाता है। हे पुरुषव्याघ्र! तब तक वह मनुष्य स्वर्गलोक में पूजित होकर रहता है ॥ ४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
विरोचनस्य संवादं केशिन्यर्थे सुधन्वना ॥ ५ ॥

इस विषय में परम प्राचीन इस इतिहास को लोग कहते हैं जो केशिनी के लिये विरोचन और सुधन्वा का संवाद रूप कहा जाता है ॥ ५ ॥

स्वयंवरे स्थिता कन्या केशिनी नाम नामतः ।
रूपेणाप्रतिमा राजन् ! विशिष्टपतिकाम्यया ॥ ६ ॥

हे राजन्! स्वयंवर में श्रेष्ठ पति की कामना से जो कि रूप में अद्वितीय और केशिनी नाम वाली थी वह खड़ी हुई ॥ ६ ॥

विरोचनोऽथ दैतेयस्तदा तत्राजगाम ह ।
प्राप्तुमिच्छंस्ततस्तत्र दैत्येन्द्रं प्राह केशिनी ॥ ७ ॥

इसके बाद उस समय उस स्वयंवर में विरोचन दैत्य आया और केशिनी के मिलने की इच्छा की। तब केशिनी दैत्येन्द्र विरोचन से बोली ॥ ७ ॥

केशिन्युवाच ।

किं ब्राह्मणाः स्विच्छ्रेयांसो दितिजाः स्विद्विरोचन ।
अथ केन स्म पर्यङ्कं सुधन्वा नाधिरोहति ॥ ८ ॥

केशिनी बोली—हे विरोचन! ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं? अथवा दैत्य श्रेष्ठ हैं? और किस कारण से सुधन्वा बराबर आसन पर नहीं बैठते? ॥८॥

सुधन्वा ब्राह्मणः पर्य्यङ्कं अधिरोहत्येव त्वं तु नीचो दैत्यः सन् किमथ तत्प्रत्याख्यानं करोषीति भावः ॥ ८ ॥

विरोचन उवाच ।

प्राजापत्यास्तु वै श्रेष्ठा वयं केशिनि सत्तमाः ।
अस्माकं खल्विमे लोकाः के देवाः के द्विजातयः ॥ ९ ॥

विरोचन बोला—हे केशिनि ! हम लोग प्रजापति कुलोत्पन्न होने से श्रेष्ठ हैं। ये लोक मेरे हैं। देवता और ब्राह्मण कौन होते हैं ?॥ ९॥

केशिन्युवाच ।

इहैवावां प्रतीक्षाव उपस्थाने विरोचन ! ।
सुधन्वा प्रातरागन्ता पश्येयं वां समागतौ ॥१०॥

केशिनी बोली—हे विरोचन ! हम दोनों इसी जगह सुधन्वा की प्रतीक्षा करें। क्योंकि प्रातःकाल सुधन्वा आने वाले हैं। मैं इसी जगह तुम दोनों को एक साथ बैठे देखूंगी ॥ १० ॥

विरोचन उवाच ।

तथा भद्रे ! करिष्यामि यथा त्वं भीरु ! भाषसे ।
सुधन्वानं च मां चैव प्रातर्द्रष्टासि सन्निधौ ॥११॥

विरोचन बोला—हे भद्रे ! हे भीरु ! जैसा तुम कहती हो वैसा ही करूंगा। प्रातःकाल सुधन्वा को और मुझको एक साथ बैठे तुम देखोगी ॥ ११ ॥

विदुर उवाच ।

अतीतायां च शर्वर्यामुदिते सूर्यमण्डले ।
अथाजगाम तं देशं सुधन्वा राजसत्तम ! ।
विरोचनो यत्र विभो ! केशिन्या सहितः स्थितः ॥१२॥

इह स्थाने उपस्थाने मामुपस्थातुम्। वां दैत्यब्राह्मणौ। अहं पश्येयम् ॥१०॥

विदुर जी बोले—हे राजसत्तम ! (धृतराष्ट्र !) रात्रि के बीत जाने पर और सूर्यमण्डल के निकल आने पर उस जगह सुधन्वा आये। हे विभो ! जहां केशिनी के साथ विरोचन स्थित रहा ॥१२॥

सुधन्वा च समागच्छत्प्राह्लादिं केशिनीं तथा।
समागतं द्विजं दृष्ट्वा केशिनी भरतर्षभ !¹।
प्रत्युत्थायासनं तस्मै पाद्यमर्घ्यं ददौ पुनः ॥१३॥

हे भरतर्षभ ! प्रह्लाद के पुत्र विरोचन और केशिनी के पास जब सुधन्वा आये। इनको देखकर केशिनी ने खड़ी हो सुधन्वा के लिये आसन, पाद्य फिर अर्घ्य को दिया ॥ १३ ॥

सुधन्वोवाच।

अन्वालभे हिरण्मयं प्राह्लादे तेवरासनम्।
एकत्वमुपसम्पन्नो न त्वासेऽहं त्वया सह ॥१४॥

हे ¹प्राह्लादे ! अर्थात् हे विरोचन ! मैं इस तुम्हारे आसन का स्पर्श करूं तो तुम्हारे साथ हमारी समानता हो जायगी। इसलिये तुम्हारे साथ एक आसन पर मैं नहीं बैठूंगा ॥ १४ ॥

विरोचन उवाच।

तवार्हते तु फलकं कूर्चं वाप्यथवा बृसी।
सुधन्वन्न त्वमर्होऽसि मया सह समासनम् ॥१५॥

समागच्छत् उभयोः सम्मुखं अगच्छत्। समागतं सम्मुखं प्राप्तम् ॥१३॥ विरोचनेन सौवर्णे पीठे मया सह उपवेश्यतामिति प्रार्थितः सुधन्वा उवाच—अन्वालभे स्पृशाम्येवा हे। प्राह्लादे ! एकत्वं त्वया सह साम्यं उपसम्पन्नश्चेत् अहं गच्छेयमिति शेषः। न तु त्वया सह एकासने आसे-उपविशामि ॥१४॥ फलकं काष्ठपीठम्। कूर्चं बृसी वर्त्तितदर्भमयं पीठं वा। तव अर्हते योग्यं भवति ॥ १५ ॥

---

१ जब विरोचन ने सुधन्वा से सुवर्णमय आसन पर अपने साथ बैठने के लिये प्रार्थना की तब सुधन्वा बोले

विरोचन बोले—हे सुधन्वन! तुम्हारे योग्य काष्ठ का पीठ, कूर्च अथवा बृसी (कुशा का आसन) हैं, किन्तु तुम हमारे साथ समान आसन पर बैठने योग्य नहीं हो॥ १५॥

सुधन्वोवाच।

पितापुत्रौ सहासीतां द्वौ विप्रौ क्षत्रियावपि।
वृद्धौ वैश्यौ च शूद्रौ च न त्वन्यावितरेतरम्॥१६॥

सुधन्वा बोला—पिता पुत्र, दो ब्राह्मण, दो क्षत्रिय, दो वृद्ध, दो वैश्य, और दो शूद्र एक आसन पर बैठ सकते हैं, किन्तु इनसे भिन्न लोग नहीं बैठ सकते हैं॥ १६॥

पिता हि ते समासीनमुपासीतैव मामधः।
बालः सुखैधितो गेहे न त्वं किञ्चन बुध्यसे॥१७॥

तुम्हारे पिता मुझको आसन पर बैठे देखकर मेरे आसन के नीचे बैठे सेवा करते हैं। गृह में तुम बालक और सुख से बढ़े इसलिये तुम कुछ भी नहीं जानते हो॥ १७॥

विरोचन उवाच।

हिरण्यं च गवाश्वं च यद्वित्तमसुरेषु नः।
सुधन्वन्विपणे तेन प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः॥१८॥

विरोचन बोला—हे सुधन्वन्! हमारे और असुरों के पास सुवर्ण, गौ, घोड़ा है, उनकी बाजी लगाकर जो इस विषय को जानते हों उनसे हम दोनों चलकर प्रश्न करें॥ १८॥

सुधन्वोवाच।

हिरण्यं च गवाश्वं च तवैवास्तु विरोचन!।
प्राणयोस्तु पणं कृत्वा प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः॥१९॥

उपासीत सेवेत अधः स्थित्वेति शेषः॥१७॥ प्रश्नं 'आवयोः कः श्रेष्ठः' इति प्रश्नं ये विदुः तान् पृच्छाव (लोडुत्तमद्विवचनस्येदं रूपम्)॥ १८॥

सुधन्वा बोला—हे विरोचन ! सुवर्ण, गौ, घोड़ा तुम्हारे पास रहें। हम दोनों प्राण की बाजी लगाकर जो जानकार हों उनसे प्रश्न पूछें ॥१९॥

विरोचन उवाच ।

आवां कुत्र गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते ।
न तु देवेष्वहं स्थाता न मनुष्येषु कर्हिचित् ॥२०॥

विरोचन बोला—प्राण की बाजी लगाकर हम दोनों कहां चलेंगे ?। मुझको न तो देवताओं का विश्वास है और न किसी मनुष्य का ही विश्वास है ॥ २० ॥

सुधन्वोवाच ।

पितरं ते गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते ।
पुत्रस्यापि स हेतोर्हि प्रह्लादो नानृतं वदेत् ॥२१॥

सुधन्वा बोला—प्राण का पण (बाजी लगा) कर तुम्हारे पिता के पास चलेंगे। क्यों कि वह तुम्हारे पिता (प्रह्लाद) पुत्र के लिये भी अनृत (असत्य) नहीं बोलेंगे ॥ २१ ॥

विदुर उवाच ।

एवं कृतपणौ क्रुद्धौ तत्राभिजग्मतुस्तदा ।
विरोचनसुधन्वानौ प्रह्लादो यत्र तिष्ठति ॥ २२ ॥

विदुर जी धृतराष्ट्र से बोले—इस प्रकार क्रुद्ध सुधन्वा विरोचन ये दोनों जहां प्रह्लाद बैठे थे उस जगह उस समय गये ॥ २२ ॥

प्रह्लाद उवाच ।

इमौ तौ सम्प्रदृश्येते याभ्यां न चरितं सह ।
आशीविषाविव क्रुद्धावेकमार्गाविहागतौ ॥ २३ ॥

प्रह्लाद बोले—जिन दोनों का वैर के कारण एक साथ रहना नहीं देखा गया सो आज इन दोनों को साथ देख रहे हैं और दोनों सर्प

सह न चरितं-मिलित्वा क्वापि न गतं वैरात् ॥ २३ ॥

के समान क्रुद्ध हैं और एक मार्ग से चले आरहे हैं अर्थात् एक साथ यहाँ आ रहे हैं ॥ २३ ॥

किं वै सहैवं चरथो न पुरा चरथः सह।
विरोचनैतत् पृच्छामि किं ते सख्यं सुधन्वना ॥२४॥

हे विरोचन! एक साथ भ्रमण कैसे हुआ? पहले साथ नहीं चलते थे-यह मैं तुमसे पूँछता हूँ कि सुधन्वा के साथ तुम्हारी मैत्री क्या है?॥

विरोचन उवाच।

न मे सुधन्वना सख्यं प्राणयोर्विपणावहे।
प्रह्लाद! तत्त्वं पृच्छामि मा प्रश्नमनृतं वदेः ॥ २५ ॥

विरोचन बोला—हे प्रह्लाद! सुधन्वा के साथ मेरी मैत्री नहीं है। हम दोनों ने प्राण की बाजी लगाई है। आप से प्रश्न पूछता हूँ। आप असत्य नहीं बोलियेगा ॥ २५ ॥

प्रह्लाद उवाच।

उदकं मधुपर्कं चाप्यानयन्तु सुधन्वने।
ब्रह्मन्नभ्यर्चनीयोऽसि श्वेता गौः पीवरी कृता ॥ २६ ॥

प्रह्लाद ने कहा—सुधन्वा के लिये जल मधुपर्क ले आओ। हे ब्रह्मन्! (हे सुधन्वन्!) आप पूजनीय हैं आपके लिये यह श्वेतवर्ण की गौ मधुपर्क के लिये पुष्ट की गई है॥ २६ ॥

सुधन्वोवाच।

उदकं मधुपर्कं च पथिष्वेवार्पितं मम।
प्रह्लाद! त्वन्तु मे तथ्यं प्रश्नं प्रब्रूहि पृच्छतः।
किं ब्राह्मणाः स्विच्छ्रेयांस उताहोस्विद्विरोचनः ॥ २७ ॥

सुधन्वा बोला—हे प्रह्लाद! मुझे जल और मधुपर्क मार्ग में ही मिल

पीवरी पुष्टा कृता मधुपर्कार्थं उपकल्पिता ॥२६॥ पथिष्विति प्रश्ननिर्णयेनैतत्

गया। अर्थात् प्रश्न के निर्णय होने से सब प्राप्त होंगे। पूछने वाले मेरे प्रश्न को तुम सत्य पूर्वक कहो कि ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं अथवा विरोचन श्रेष्ठ है ॥

प्रह्लाद उवाच।

पुत्र एको मम ब्रह्मंस्त्वं च साक्षादिहास्थितः।
तयोर्विवदतोः प्रश्नं कथमस्मद्विधो वदेत् ॥ २८ ॥

प्रह्लाद ने कहा—हे ब्रह्मन्! मेरा एक ही पुत्र है और दूसरे यहां पर आप साक्षात् (स्वयं) स्थित हैं। आप दोनों के विवाद में प्रश्न को हमारे जैसा व्यक्ति प्रकार कह सकता है ॥ २८ ॥

सुधन्वोवाच।

गां प्रदद्यास्त्वौरसाय यद्वान्यत्स्यात्प्रियं धनम्।
द्वयोर्विवदतोस्तथ्यं वाच्यं च मतिमंस्त्वया ॥ २९ ॥

सुधन्वा ने कहा—हे बुद्धिमन्! गौ पुत्र के लिये दीजिये और जो कुछ प्रिय धन हो उसको पुत्र के लिये दीजिये अर्थात मुझे न चाहिये। विवाद करने वाले हम दोनों के प्रश्न का सत्य उत्तर आपको करना चाहिये ॥

प्रह्लाद उवाच।

अथ यो नैव प्रब्रूयाः सत्यं वा यदि वानृतम्।
एतत्सुधन्वन्पृच्छामि दुर्विवक्ता स्म किं वसेत् ॥ ३० ॥

प्रह्लाद ने कहा—जो सत्य अथवा असत्य नहीं बोल सकता है। हे सुधन्वन्! मैं आपसे पूछता हूँ कि वह दुष्ट वचन को कहने वाला किस दुःख का भागी होगा ॥ ३० ॥

सुधन्वोवाच।

यां रात्रिमधिविन्ना स्त्री यां चैवाक्षपराजितः।
यां च भाराभितप्ताङ्गो दुर्विवक्ता स्म तां वसेत् ॥ ३१ ॥

प्राप्तमिति भावः ॥२७॥ दुर्विवक्ता दुष्टविवेककर्त्ता अन्याय्यवक्तेत्यर्थः। किं वसेत् किं दुःखं प्राप्नुयात् ॥३०॥ अधिविन्ना कृतसपत्नीका स्त्री यां यादृशीं दुःखपूर्णां रात्रि

सुधन्वा ने कहा—सपत्नि स्त्री[1], जूआ में पराजित जुआड़ी मनुष्य, और भार से पीड़ित शरीर वाला पुरुष, जिस दुःख का भागी होता है वैसे ही दुष्ट वचन का कहने वाला दुःख का भागी होता है॥ ३१॥

नगरे प्रतिरुद्धः सन् बहिर्द्वारे बुभुक्षितः।
अमित्रान्भूयसः पश्येद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत्॥ ३२॥

नगर में रोका गया अर्थात् शरण का अभागी मनुष्य, बाहर द्वार पर बैठा भूख से पीडित मनुष्य, और बहुत शत्रुओं को देखने वाला मनुष्य अर्थात् शत्रुओं से घिरा हुआ मनुष्य जिस दुःख का भागी होता है, झूठी गवाही देने वाला भी उस दुःख का भागी होता है॥ ३२॥

पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते॥ ३३॥

अजा आदि पशु के लिये झूठ बोलने वाला पांच पूर्वजों का नाश करता है, गो के लिये झूठ बोलने वाला दश पूर्वजों का नाश करता है, घोड़ा के लिये झूठ बोलने वाला १०० सौ पूर्वजों का नाश करता है और पुरुष के लिये झूठ बोलने वाला १००० हजार पूर्वजों का नाश करता है अर्थात् पूर्वजों को परलोक से गिरा देता है॥ ३३॥

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन्।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदेः॥ ३४॥

वसेत् तद्वद् (अत्यन्तसंयोगे द्वितीयेयम्) दुःखं प्राप्नुयात्॥ ३१॥ नगरे इति शरणमलभमानः क्षुधार्तः शत्रुभिर्वेष्टितश्च यद् दुःखं लभते सः अनृतसाक्ष्यवक्ताऽपि तद् दुःखं लभेतेत्यर्थः॥३२॥ पञ्चपूर्वजान् पश्वनृते अजादिपश्वर्थमनृते उक्ते सति हितं नाशयति परलोकात् च्यावयति। एवमुत्तरत्र॥ ३३॥ भूमितुल्या केशिनी

---

१ सपत्न स्त्री पति के विना काम से सन्तप्त होकर रात्रि को बिताया करती है। जूआ में पराजित मनुष्य चिन्ता में मग्न होकर रात्रि बिताता है और भार से पीड़ित शरीर वाला मनुष्य भी निरन्तर दुःखित हो रात बिताता है।

सुवर्ण के लिये झूठ बोलने वाला पैदा हुओं का और जो पैदा नहीं हुये हैं उनका भी नाश करता है। पृथ्वी के लिये झूठ बोलने वाला समस्त का नाश करता है। इस लिये आप भूमि के लिये झूठ मत बोलिये। यहां केशिनी पृथ्वी के तुल्य है। अर्थात् केशिनी के लिये झूठ नहीं बोलिये ॥ ३४ ॥

प्रह्लाद उवाच।

मत्तः श्रेयानङ्गिरा वै सुधन्वा त्वद्विरोचन !।

माताऽस्य श्रेयसी मातुस्तस्मात्त्वं तेन वै जितः ॥ ३५ ॥

प्रह्लाद ने कहा—हे विरोचन! मुझ से अङ्गिरा (सुधन्वा के पिता) श्रेष्ठ हैं और सुधन्वा तुमसे श्रेष्ठ हैं। इनकी माता तुम्हारी माता से श्रेष्ठ हैं, इसलिये सुधन्वा ने तुमको जीत लिया है ॥३५॥

विरोचन ! सुधन्वाऽयं प्राणानामीश्वरस्तव।

सुधन्वन्पुनरिच्छामि त्वया दत्तं विरोचनम् ॥ ३६ ॥

हे विरोचन ! ये सुधन्वा तुम्हारे प्राणों के ईश्वर हैं। हे सुधन्वन् ! तुमसे दिये हुए विरोचन को मैं फिर लेना चाहता हूँ ॥ ३६ ॥

सुधन्वोवाच।

यद्धर्ममवृणीथास्त्वं न कामादनृतं वदीः।

पुनर्ददामि ते पुत्रं तस्मात्प्रह्लाद ! दुर्लभम् ॥ ३७ ॥

सुधन्वा बोला—हे प्रह्लाद ! आपने धर्म को वरा अर्थात् धर्म वचन कहे। असत्य नहीं कहा। इस लिये आपके लिये दुर्लभ इस पुत्र को फिर देता हूँ ॥ ३७ ॥

एष प्रह्लाद ! पुत्रस्ते मया दत्तो विरोचनः।

पादप्रक्षालनं कुर्यात्कुमार्याः सन्निधौ मम ॥ ३८ ॥

तदर्थं अनृतं भूम्यनृतम् ॥ ३४ ॥ अङ्गिराः सुधन्वनः पिता त्वत् त्वत्तः ॥ ३५ ॥ पादप्रक्षालनं हरिद्रया पादधावनम्। कुमार्याः केशिन्याः विवाहे दम्पत्योः परस्परं

हे प्रह्लाद! मैंने यह आपका पुत्र विरोचन दिया। यह मेरे सामने केशिनी के पैरों का [1]प्रक्षालन करे अर्थात् व्याहने के लिये इसको वरे ॥ ३८ ॥

विदुर उवाच।

तस्माद्राजेन्द्र! भूम्यर्थे नानृतं वक्तुमर्हसे।
मा गमः ससुतामात्यो नाशं पुत्रार्थमब्रुवन् ॥ ३९ ॥

विदुर जी ने धृतराष्ट्र से कहा कि हे राजेन्द्र! इस लिये भूमि के निमित्त आप पुत्र के लिये सत्य वचन न कहकर पुत्र अमात्य के सहित नाश को प्राप्त न हों ॥ ३९ ॥

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम् ॥ ४० ॥

पशुपाल (ग्वाल) के समान दण्डा को लेकर देवता लोग रक्षा नहीं करते हैं, किन्तु जिसकी रक्षा करना चाहते हैं उसको बुद्धि से अच्छी तरह युक्त करते हैं ॥ ४० ॥

यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः।
तथा तथास्य सर्वार्थाः सिध्यन्ते नात्र संशयः ॥ ४१ ॥

पुरुष जैसे २ कल्याण में मन को करता है वैसे २ उसके सभी अर्थ सिद्ध होते हैं इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ४१ ॥

हरिद्रया पादधावनं कुर्वन्तीति प्रसिद्धम्। अस्यैव भार्या केशिनी भवत्वित्यर्थः ॥३८॥ प्रकृते आख्यायिकोपयोगमाह तस्मादिति। अब्रुवन् सत्यमिति शेषः ॥३९॥ तव दैवं प्रतिकूलं अधीतं च निष्फलमित्याह—त्रयेण न देवा इति ॥४०॥

---

1 इसके यहां वर कन्या विवाह में परस्पर हरिद्रा (हरदी) से पैर को धोते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि केशिनी विरोचन की ही स्त्री हो।

नैनं छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति मायाविनं मायया वर्तमानम् ।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाश्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले ॥ ४२ ॥

माया से युक्त उस मायावी का वेद कष्ट से उद्धार नहीं करते हैं, किन्तु घोसले को पङ्ख के निकल आने पर पक्षी के समान अन्त समय में वेद उसका त्याग कर देते हैं ॥ ४२ ॥

मद्यपानं कलहं पूगवैरं भार्यापत्योरन्तरं ज्ञातिभेदम् ।
राजद्विष्टं स्त्रीपुंसयोर्विवादं वर्ज्यान्याहुर्यश्च पन्थाः प्रदुष्टः ॥४३॥

मद्यपान, कलह, समुदाय से वैर, भार्या और पुत्र का वियोग, ज्ञातिभेद, राजशत्रु, स्त्री पुरुष के वैर को बढ़ाने वाला विवाद, ये सब त्याज्य हैं और दुष्ट मार्ग भी त्याज्य है ॥ ४३ ॥

सामुद्रिकं वणिजं चोरपूर्वं शलाकधूर्तं च चिकित्सकं च ।
अरिं च मित्रं च कुशीलवं च नैतान्साक्ष्ये त्वधिकुर्वीत सप्त ॥४४॥

हस्तरेखा देखने वाला, जो चोर होकर वणिक् हो अर्थात् कूट तौल करने वाला वणिक, शलाक धूर्त अर्थात् शलाक पाश आदि से शकुन आदि कहकर ठगने वाला, चिकित्सक अर्थात् वैद्य, शत्रु, मित्र, कुशीलव अर्थात् कुत्सित शील वाला, इन सात को साक्षी-कर्म (गवाही) में नहीं रक्खे। तुम्हारे यहाँ कूट द्यूतकर्म करने वाला शकुनि प्रामाणिक है अर्थात् उसका प्रमाण माना जाता है ॥ ४४ ॥

छन्दांसि वेदाः ॥ ४२ ॥ अन्तरं वियोगम् । विवादं वैरप्रवर्तनम् । ज्ञातिभेदे कलहे च तव प्रवृत्तिर्न योग्येति भावः ॥ ४३ ॥ सामुद्रिकं हस्तरेखादिपरीक्षकम् । वणिजं चोरपूर्वं पूर्वं चोरः पश्चाद्वणिग्भूतस्तं कूटतुलावन्तं वा । शलाकधूर्तं शलाकया पाशादिना वा शकुनादिकं उक्त्वा यो अन्यान् वञ्चयति तम् । अरिं विपरीतसाक्ष्यभयात् । मित्रं परीक्षकाणामविश्वासात् । कुशीलवं—कुत्सितं शीलं वाति अनुसरतीति तं नर्तकीदासं विटोन्मत्तादिकं वा । तव तु कूटद्यूतकारी

मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं मानेनाधीतमुत मानयज्ञः।
एतानि चत्वार्यभयङ्कराणि भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि ॥४५॥

मान के लिये अग्निहोत्र, मान के लिये मौन अर्थात् ध्यान, मान के लिये अध्ययन, और मान के लिये यज्ञ ये चार अभय को करने वाले हैं परन्तु ये ही उचित रूप से न करने पर भय को देने वाले हैं ॥४५॥

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी।
पर्वकारश्च सूची च मित्रध्रुक्पारदारिकः ॥ ४६ ॥

भवन को जलाने वाला विष देने वाला, कुण्डाशी अर्थात (स्त्री-व्यभिचार) से जीविका करने वाला सोमलता को बेचने वाला, बाण बनाने वाला ज्योतिषी अथवा चुगल खोर, मित्र के साथ द्रोह करने वाला, पर स्त्री के साथ गमन करने वाला ॥ ४६ ॥

भ्रूणहा गुरुतल्पी च यश्च स्यात्पानपो द्विजः।
अतितीक्ष्णश्च काकश्च नास्तिको वेदनिन्दकः ॥४७॥

भ्रूण (गर्भ) हत्या करने वाला, गुरु-शय्या पर शयन करने वाला, मदिरा पान करने वाला, ब्राह्मण अत्यन्त क्रूर स्वभाव वाला, काक (काक के समान) अर्थात् दुःखित को दुःख देने वाला, नास्तिक वेद-निन्दक ॥ ४७ ॥

शकुनिः कुशीलव एव प्रमाणम् ॥ ४४ ॥ सत्कर्मद्वाराऽपि तस्य साधुत्वं न मन्तव्यमित्याह—मानेति। मानः लोकेषु उत्कर्षः तदर्थानि अग्निहोत्रादीनि भयदानीत्यर्थः। मौनं ध्यानम् ॥ ४५ ॥ कुण्डाशी भगजीविकः, जीवति भर्तरि जाराज्जातः कुण्डः तेन निमित्तेन अशितुं शीलः। सोमविक्रयी प्रसिद्धः। पर्वकारः—शरकृत् आयुधमात्रकर्तेत्यर्थः। सूची—सूचको नक्षत्रादीनां परदोषाणां च, ज्यौतिषिकः पिशुनो वा ॥ ४६ ॥ काकः—काकवत् क्षतोद्वर्तनेन दुःखितस्यापि दुःखप्रदः। नास्तिकः परलोकादिद्वेषी ॥ ४७ ॥

स्रुवप्रग्रहणो व्रात्यः कीनाशश्चात्मवानपि ।
रक्षेत्युक्तश्च यो हिंस्यात्सर्वे ब्रह्महभिः समाः ॥ ४८ ॥

अधिकार मिलने पर अनुचित बर्ताव करने वाला, व्रात्य अर्थात् गर्भाधान से लेकर उपनयनादि संस्कार से हीन अथवा पतित, कीनाश अर्थात् क्रूर, रक्षा कीजिये २ इस प्रकार कहने पर भी समर्थ होकर वध करता है, ये सब ब्रह्महत्यारों के समान हैं ॥ ४८ ॥

तृणोल्कया ज्ञायते जातरूपं वृत्तेन भद्रो व्यवहारेण साधुः ।
शूरो भयेष्वर्थकृच्छ्रेषु धीरः कृच्छ्रेष्वापत्सु सुहृदश्चारयश्च ॥४९॥

अग्नि की ज्वाला से सुवर्ण, आचार से धर्म, व्यवहार से साधु-जन, भय आनेपर शूर, अर्थकृच्छ्र अर्थात् धन-कष्ट में धीर, कष्ट में सुहृद और आपत्ति में शत्रु की परीक्षा होती है ॥ ४९ ॥

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा मृत्युः प्राणान्धर्मचर्यामसूया ।
क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः ॥५०॥

जरा (बुढ़ापा) रूप का, आशा धैर्य का, मृत्यु प्राणों का, असूया (गुणों में दोषारोप) धर्मकृत्य का, क्रोध लक्ष्मी का, अनार्य (नीच) सेवा शील का, काम लज्जा का नाश करते हैं और अभिमान (अहङ्कार) सबका नाश करता है ॥ ५० ॥

स्रुवप्रग्रहणः राजकीयवृत्तिबलेन सर्वेभ्यो वणिग्भ्यः स्रुवेण धान्यादिकं आदत्ते "खोंचीग्राहक" इति भाषायां प्रसिद्धः, ग्रामपुरोहितः, इत्यन्ये । व्रात्यः—अतीतोपनयनकालः पतितसावित्रीको वा । कीनाशः कर्षकः । आत्मवान् समर्थोऽपि यो रक्षेत्युक्तो हिंस्यात् । एतेषु आद्यं द्वयं त्वत्पुत्रेषु दृष्टम् ॥ ४८ ॥ तृणोल्कया तृणज्वालया जातरूपं रूपवद्वस्तु ज्ञायते अन्धकारे सति । भद्रो वृषः धर्म इति यावत् । वृत्तेन शीलेन सोऽस्ति, नास्तीति ज्ञायते । व्यवहारेण अहिंसादिप्रधानेन । कृच्छ्रेषु दुर्भिक्षादिसङ्कटेषु । त्वत्पुत्रेषु धर्मः साधुत्वं च नास्तीत्यर्थः ॥ ४९ ॥ जरेति—त्वत्पुत्रे अभिमानदोषोऽस्ति ॥ ५० ॥

श्रीर्मङ्गलात्प्रभवति प्रागल्भात्सम्प्रवर्द्धते।
दाक्ष्यात्तु कुरुते मूलं संयमात्प्रतितिष्ठति ॥ ५१ ॥

शुभ-कर्म से लक्ष्मी पैदा होती है, और प्रगल्भता (पराक्रम व प्रतिभा) से बढ़ती है, दक्षता (योग्यता) से जड़ मजबूत होती है और संयम अर्थात् इन्द्रिय-दमन से अच्छी तरह रहती है ॥ ५१ ॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ५२ ॥

१ प्रज्ञा (बुद्धि), २ कुलीनता, ३ दम अर्थात् इन्द्रियों का दमन, ४ श्रुत अर्थात् शास्त्राभ्यास, ५ पराक्रम, ६ अबहुभाषिता अर्थात् कम बोलना, ७ यथाशक्ति दान करना, ८ कृतज्ञता अर्थात् दूसरे के उपकार को याद रखना, ये आठ गुण पुरुष को प्रकाशित करते हैं ॥ ५२ ॥

एतान्गुणांस्तात ! महानुभावानेको गुणः संश्रयते प्रसह्य।
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं सर्वान् गुणानेष गुणी विभाति ॥ ५३ ॥

हे तात ! इन आठ गुणों को अत्यन्त प्रभावशाली एक ही गुण बलात्कार से अपने अधीन कर लेता है। जब राजा मनुष्य का सत्कार करता है तो यह गुण समस्त गुणों में विशेष शोभित होता है ॥ ५३ ॥

अष्टौ नृपेमानि मनुष्यलोके स्वर्गस्य लोकस्य निदर्शनानि।
चत्वार्येषामन्ववेतानि सद्भिश्चत्वारि चैषामनुयान्ति सन्तः ॥ ५४ ॥

हे नृप ! ये आठ गुण इस मनुष्य लोक में स्वर्ग लोक के दृष्टान्त

श्रीरिति—दाक्ष्यं शीघ्रकारित्वं, त्वयि संयमाभावान्न श्री स्थास्यति ॥ ५१ ॥ अष्टाविति—राज्ञा पुरस्कृतं पुरुषं प्रज्ञादयो हठादनुसरन्तीति श्लोकद्वयार्थः ॥ ५२ ॥ एष गुणो राजसत्कारः। विभाति भासयति। कर्णादिषु सत्कृतेषु आगन्तुका एते गुणाः सन्ति, न स्वाभाविकाः, अतः तेन उपयोक्ष्यन्ते इति भावः ॥ ५३ ॥ इमानि वक्ष्यमाणानि। अन्ववेतानि नित्यसम्बद्धानि। अनुयान्ति यत्नेन भजन्ति ॥ ५४ ॥

रूप हैं। जिनमें चार गुण सज्जनों में सदा मिले रहते हैं और चार गुणों का सज्जन लोग अनुगमन करते हैं ॥ ५४ ॥

यज्ञो दानमध्ययनं तपश्च चत्वार्येतान्यन्ववेतानि सद्भिः ।
दमः सत्यमार्जवमानृशंस्यं चत्वार्येतान्यनुयान्ति सन्तः ॥ ५५ ॥

यज्ञ, दान, अध्ययन, तप ये चार सज्जनों में सदा सम्बद्ध होकर रहते हैं। [1]दम, सत्य, [2]आर्जव, [3]आनृशंस्य, इन चारों का सज्जन लोग अनुसरण करते हैं ॥ ५५ ॥

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥ ५६ ॥

[4]इज्या, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, घृणा, और अलोभ ये आठ प्रकार के धर्म के मार्ग हैं ॥ ५६ ॥

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरश्च चतुर्वर्गो नामहात्मसु तिष्ठति ॥ ५७ ॥

इन आठों में पूर्व के चार अर्थात इज्या, अध्ययन, दान, तप ये ढोंग से भी सेवन किये जाते हैं। परन्तु बाद के जो सत्य, क्षमा, दया, अलोभ ये चार हैं वे दुष्टों में नहीं रहते हैं अर्थात् महात्माओं में ही रहते हैं ॥ ५७ ॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥५८॥

जहाँ वृद्ध न होवें वह सभा नहीं है, जो धर्म को नहीं कहें वे वृद्ध नहीं हैं, जहाँ सत्य नहीं है वह धर्म नहीं है और जो छल से युक्त है वह सत्य नहीं है ॥ ५८ ॥

तत्रेति—असत्यपि दमादौ दम्भार्थं यज्ञादिसम्भवात् ॥ ५७ ॥

---

१ इन्द्रिय दमन। २ सरलता-सीधापन। ३ अक्रूरता। ४ यज्ञ करना।

सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम्।
शौर्यं च चित्रभाष्यं च दशेमे स्वर्गयोनयः॥ ५९॥

सत्य, रूप, [1]श्रुत, विद्या, [2]कौल्य, शील, बल, धन, [3]शौर्य, [4]चित्रभाष्य ये दश स्वर्ग के कारण हैं अर्थात् स्वर्ग के दाता हैं॥५९॥

पापं कुर्वन्पापकीर्तिः पापमेवाश्नुते फलम्।
पुण्यं कुर्वन्पुण्यकीर्तिः पुण्यमत्यन्तमश्नुते॥ ६०॥

पापकर्म को करता हुआ पापरूप यश का भागी होकर पापफल को भोगता है। पुण्यकर्म को करता हुआ पुण्यकीर्ति होकर पुण्यफल को भोगता है॥ ६०॥

तस्मात्पापं न कुर्वीत पुरुषः शंसितव्रतः।
पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः॥ ६१॥

बार बार पापकर्म के करने से प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि का नाश हो जाता है। इस लिये पुरुष सदाचारी होकर पापकर्म को न करे॥६१॥

नष्टप्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते नरः।
पुण्यं प्रज्ञां वर्धयति क्रियमाणं पुनः पुनः॥ ६२॥

बुद्धि के नष्ट हो जाने से पुरुष नित्य पापकर्म को करता है। और बार बार किया हुआ पुण्य बुद्धि को बढ़ाता है॥ ६२॥

वृद्धप्रज्ञः पुण्यमेव नित्यमारभते नरः।
पुण्यं कुर्वन्पुण्यकीर्तिः पुण्यस्थानं स्म गच्छति।
तस्मात्पुण्यं निषेवेत पुरुषः सुसमाहितः॥ ६३॥

रूपं विनयमुद्रा। श्रुतं अध्ययनम्। विद्या देवताद्युपासनम्। चित्रभाष्यं युक्तियुक्तं वचनम्। दश संसर्गजा गुणा इति पाठे तद्युक्तैः सह सङ्गे कृते एते जायन्ते, तेन सत्सङ्गः कर्तव्यः इति भावः॥५९॥ पापकीर्तिः कलङ्कित्वेन प्रसिद्धः॥६०॥

---

१ शास्त्राभ्यास। २ कुलीनता। ३ शूरता। ४ विचित्र भाषण।

बुद्धि के बढ़ने से पुरुष नित्य पुण्यकर्म ही को करता है। पुण्यकर्म को करता हुआ पुण्यकीर्ति होकर पुण्यस्थान (स्वर्गादि) को जाता है। इस लिये पुरुष सावधान पुण्य का सेवन करे ॥ ६३ ॥

असूयको दन्दशूको निष्ठुरो वैरकृच्छठः ।
स कृच्छ्रं महदाप्नोति न चिरात्पापमाचरन् ॥६४॥

[1]असूयक, [2]दन्दशूक, [3]निष्ठुर, [4]वैरकृत्, [5]शठ, ये पापकर्म को करने वाले शीघ्र ही महान् कष्ट को प्राप्त करते हैं ॥ ६४ ॥

अनसूयुः कृतप्रज्ञः शोभनान्याचरन्सदा ।
न कृच्छ्रं महदाप्नोति सर्वत्र च विरोचते ॥ ६५ ॥

जो असूया (ईर्ष्या) से रहित है और निश्चित बुद्धि वाला है वह सदा शुभकर्मों को करता हुआ महान् कष्ट को नहीं प्राप्त होता है और सर्वत्र प्रसिद्ध होता है ॥ ६५ ॥

प्रज्ञामेवागमयति यः प्राज्ञेभ्यः स पण्डितः ।
प्राज्ञो ह्यवाप्य धर्मार्थौ शक्नोति सुखमेधितुम् ॥ ६६ ॥

जो विद्वानों से बुद्धि को ही प्राप्त करता है वह पण्डित है, क्योंकि पण्डित धर्म तथा अर्थ को प्राप्तकर सुख को बढ़ाने में समर्थ होता है ॥६६॥

दिवसेनैव तत्कुर्याद्येन रात्रौ सुखं वसेत् ।
अष्टमासेन तत्कुर्याद्येन वर्षाः सुखं वसेत् ॥ ६७ ॥

उस कार्य को दिन में ही कर डाले जिससे रात्रि में सुख से वास

दन्दशूको मर्मच्छेत्ता । निष्ठुरः अप्रियवाक् । न चिरात् शीघ्रम् ॥ ६४ ॥ नकृच्छ्रं समस्तं पदं [illegible]प्राची ॥ ६५ ॥ आगमयति आनयति ॥६६॥ वर्षाः इति अत्यन्तसंयोगे [illegible]य॥ ६७ ॥

---

१ गुणों में दोषा[illegible] करने वा[illegible] । ४ मर्मस्थलभेदी वचन बोलने वाला अर्थात् अप्रियवक्ता । ३ [illegible]ष्ठुर । २ शत्रु[illegible] करने वाला । ५ कपटी ।

हो। और उस कार्य को आठ मास में करले जिससे वर्षा के ४ चार मास में सुख से वास करने को समय मिले ॥ ६७ ॥

पूर्वे वयसि तत्कुर्याद्येन वृद्धः सुखं वसेत् ।
यावज्जीवेन तत्कुर्याद्येन प्रेत्य सुखं वसेत् ॥ ६८ ॥

उस कार्य को पूर्व अवस्था अर्थात् जवानी में करले जिससे वृद्ध होकर सुख से वास करे, और उस कार्य को अपने जीवन भर में करले जिससे मरने पर सुख से वास करे ॥ ६८ ॥

जीर्णमन्नं प्रशंसन्ति भार्यां च गतयौवनाम् ।
शूरं विजितसंग्रामं गतपारं तपस्विनम् ॥ ६९ ॥

जीर्ण अन्न अर्थात् पच जाने वाले अन्न की, गतयौवना अर्थात् युवावस्था व्यतीत होने पर स्त्री की, संग्राम जीत लेने पर शूर की, तत्त्वज्ञान के होने पर तपस्वी की प्रशंसा करते हैं ॥ ६९ ॥

धनेनाधर्मलब्धेन यच्छिद्रमपिधीयते ।
असंवृतं तद्भवति ततोऽन्यदवदीर्यते ॥ ७० ॥

अधर्म द्वारा प्राप्त धन से जो छिद्र (दोष) ढ़ापा जाता है वह बिन ढ़पा ही रहता है और उससे अधिक और भी छिद्र हो जाता है ॥७०॥

गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम् ।
अथ प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ॥ ७१ ॥

आत्मवान् अर्थात् बुद्धिमानों के गुरु शिक्षक होते हैं, दुष्टों के राजा शिक्षक होते हैं और प्रच्छन्न (छिपकर) पाप करने वालों के सूर्यपुत्र यमराज शिक्षक अर्थात् दण्ड देने वा[illegible] होते हैं॥ ७१ ॥

गतपारं प्राप्ततत्त्वम् ॥६९॥ परिपाकसुखं क[illegible]ा न कुर्वन्ति अन्यायेन च सुखं लिप्सन्ति तत्तु विपरीतमेवेत्याह—धनेनेति [illegible] ७० ॥ आत्मवतां बुद्धिमतांम्, प्रच्छन्नपापो दुर्योधनः ॥ ७१ ॥

ऋषीणां च कुलानां च नदीनां च महात्मनाम् ।
प्रभावो नाधिगन्तव्यः स्त्रीणां दुश्चरितस्य च ॥७२॥

ऋषि, नदी, महात्मा, और कुल का मूल (असलियत) नहीं जाना जाता और स्त्रियों के दुश्चरित्र का ज्ञान होना भी असम्भव है ॥ ७२॥

द्विजातिपूजाभिरतो दाता ज्ञातिषु चार्जवी ।
क्षत्रियः शीलभाग्राजंश्चिरं पालयते महीम् ॥ ७३ ॥

हे राजन्! द्विजातियों की पूजा में रत, दाता, जातिवालों में दया करने वाला, शीलवान् क्षत्रिय बहुत दिनों तक पृथिवी की रक्षा (राज्य भोग) करता है ॥ ७३ ॥

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥ ७४ ॥

शूर, विद्वान्, सेवा वृत्ति का जानने वाला सेवक ये तीन पुरुष सुवर्ण पुष्प वाली पृथिवी का सञ्चय (भोग) करते हैं ॥ ७४ ॥

बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत ।
तानि जङ्घाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च ॥ ७५ ॥

बुद्धि से किये जाने वाले कार्य श्रेष्ठ होते हैं, बाहु-बल से किये जाने वाले कार्य मध्यम होते हैं, जो कपटसाध्य कार्य हैं वे नीच हैं, और भार-साध्य अर्थात् जिसकी सिद्धि में बुद्धिहीन शारीरिक परिश्रम मात्र हो वह अधम कार्य कहे जाते हैं ॥ ७५ ॥

प्रभवः माहात्म्यम् । 'प्रभवा जन्ममूले स्याज्जन्महेतौ पराक्रमे' इति मेदिनी। नाधिगन्तव्यः नाधिगन्तुं शक्योऽनन्तत्वात् ॥ ७२ ॥ ज्ञातिषु अनार्जवी दुर्योधनः ॥ ७३ ॥ शूराः पाण्डवाः सर्वत्र सुवर्णभाजः इति भावः ॥ ७४ ॥ बुद्धिरेव येषां फलसिद्धौ साधनं तानि बुद्धिश्रेष्ठानि प्रशस्ततमानि कर्माणि । बाहुमध्यानि बाहुबलसाध्यानि मध्यानि। जघेति—गोपनीयत्वं लक्ष्यते तेन कपटसाध्यानि जघन्यानि नीचानि। येषां सिद्धौ बुद्धि विधुरः शारीरिकः श्रमः केवलं तानि नीचतराणि॥७५॥

दुर्योधनेऽथ शकुनौ मूढे दुःशासने तथा।
कर्णे चैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ॥ ७६ ॥

ऐश्वर्य को दुर्योधन, शकुनि और मूढ दुःशासन तथा कर्ण के अधीन करके आप ऐश्वर्य (उन्नति) को कैसे चाहते हैं ? ॥ ७६ ॥

सर्वैर्गुणैरुपेतास्तु पाण्डवा भरतर्षभ ! ।
पितृवत्त्वयि वर्तन्ते तेषु वर्तस्व पुत्रवत् ॥ ७७ ॥

इति श्रीमहाभारते प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये
[३] पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

हे भरतश्रेष्ठ ! समस्त गुणों से युक्त पाण्डव आप में पितृवत् बर्ताव करते हैं। इनमें आप पुत्रवत् बर्ताव करें ॥ ७७ ॥

इति श्रीमहाभारते प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये—व्या. आ.
'विद्यारत्न' पं०माधवप्रसादव्यासेन कृतायां भाषाटीकायां
(तृतीयोऽ) पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

---

(४)—अथ षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

विदुर उवाच।

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
आत्रेयस्य च संवादं साध्यानां चेति नः श्रुतम् ॥ १ ॥

विदुर जी ने धृतराष्ट्र से कहा—लोग इसी विषय में यहाँ पर हुए एक परम प्राचीन इतिहास, जो कि आत्रेय और साध्यों का संवाद रूप है उसको उदाहरण में कहते हैं। ऐसा हमने सुना है ॥ १ ॥

तत्र अन्त्यकर्मद्वयवन्तो दुर्योधनादय इति मत्वा प्राह—दुर्योधने इति ॥७६॥
अत्रैव कर्तव्याकर्तव्यविषय एव ॥ १ ॥

चरन्तं हंसरूपेण महर्षिं शंसितव्रतम् ।
साध्या देवा महाप्राज्ञं पर्यपृच्छन्त वै पुरा ॥ २ ॥

परिव्राजक (संन्यासी) रूप से विचरने वाले, प्रशंसित आचरणवाले तथा परम बुद्धिमान् आत्रेय महर्षि से पहिले किसी समय साध्य देवताओं ने पूछा था ॥ २ ॥

साध्या ऊचुः ।

साध्या देवा वयमेते महर्षे ! दृष्ट्वा भवन्तं न शक्नुमोऽनुमातुम् ।
श्रुतेन धीरो बुद्धिमांस्त्वं मतो नः काव्यां वाचं वक्तुमर्हस्युदाराम् ॥३॥

साध्यदेवताओं ने महर्षि आत्रेय से कहा कि हे महर्षे ! आपके सामने स्थित हम सब साध्य देवता हैं और आपको देखकर आपका अनुमान (पहिचान) करने में असमर्थ हैं । आप शास्त्रबल से धीर और बुद्धिमान् हमें मालूम होते हैं, इसलिये आप विद्वानों के योग्य उदार वचन को कहने में समर्थ हैं ॥ ३ ॥

हंस उवाच ।

एतत्कार्यममराः ! संश्रुतं मे धृतिः शमः सत्यधर्मानुवृत्तिः ।
ग्रन्थिं विनीय हृदयस्य सर्वं प्रियाप्रिये चात्मसमं नयीत ॥ ४ ॥

इतना वचन सुनकर हंसरूप धारी आत्रेय महर्षि साध्यदेवता से बोले—हे साध्यदेवता ! यह करना चाहिये जो कि मैंने गुरुओं से

. हंसरूपेण परिव्राजकरूपेण ॥२॥ अनुमातुं लिङ्गेन ज्ञातुम् । काव्यां विद्वल्लक्षणाभिधायिनीम् ॥३॥ मे मम संश्रुतं, विद्यते गुरुभ्य इति शेषः। तदेवाह धृतिरिति–धृतिः दुःखैरभिघातेऽपि अवैकल्यम् । दमः सर्वेन्द्रियजयः । सत्यधर्माः ब्रह्मप्रापका धर्माः धारणाध्यानसमाधयः तेषां अनुवृत्तिरविच्छेदः । तैश्च ग्रन्थिं चिज्जडयोरात्मान्तःकरणयोरेकताभावं विनीय तयोः पृथक्करणेन शिथिलीकृत्य । प्रियाप्रियधर्मिणोऽन्तःकरणस्य आत्मनि अध्यस्तस्य स्वाधिष्ठाने प्रलये सति तयोरपि तत्रैव लय इत्यर्थः। यथा रज्ज्वां रज्जुसर्पे लीने सति भीषणत्वादयोऽपि तत्रैव लीयन्ते

सुना है उसको मैं कहता हूं। धृति (धैर्य) अर्थात् दुःखों के होने पर भी स्थिरचित्त होना, दम अर्थात् समस्त इन्द्रियों को वश में करना, सत्यधर्म, अर्थात् ब्रह्मप्रापक जो धारणा-ध्यान-समाधि हैं उनकी अनुवृत्ति अर्थात् लगातार सेवन करना, इन उपायों से समस्त चित् और जड़ की ग्रन्थि को अर्थात् आत्मा और अन्तःकरण के ऐक्यभाव को विवेक बुद्धि से पृथक् करके शिथिल करे और प्रिय अप्रिय (सुख दुःख) को आत्मा के साथ समानता को करे अर्थात् सुख-दुःखधर्मा अन्तःकरण का आत्मा में अध्यास होने से स्वाधिष्ठान के लय होने पर सुख दुःख का भी लय उसी आत्मा में हो जाता है। जैसे रज्जु में रज्जुसर्प के लीन होने पर भीषणत्वादि भी उसी रज्जुमें ही लीन हो जाते हैं ॥४॥

आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥ ५ ॥

किसी के गाली देने पर गाली नहीं देवे, क्योंकि सहन करने वाले का क्रोध ही उस गाली देने वाले का अच्छी तरह नाश कर देता है अर्थात् उसे जला देता है। और उस गाली देने वाले के पुण्य का भागी सहने वाला होता है ॥ ५ ॥

नाक्रोशी स्यान्नावमानी परस्य मित्रद्रोही नोत नीचोपसेवी।
न चाभिमानी न च हीनवृत्तो रूक्षां वाचं रुशतीं वर्जयीत ॥६॥

मित्र के साथ द्रोह न करे, दूसरे को गाली न देवे, दूसरे का अपमान न करे, नीच की सेवा न करे, अभिमान न करे, आचार हीन न होवे और रूखा एवं जलाने वाले वचन को न कहे ॥ ६ ॥

मर्माण्यस्थीनि हृदयं तथाऽसून् रूक्षा वाचो निर्दहन्तीह पुंसाम्।
तस्माद्वाचमुषतीं रूक्षरूपां धर्मारामो नित्यशो वर्जयीत ॥ ७ ॥

तद्वत् ॥४॥नाक्रोशेत् न शपेत् यतः तितिक्षतो मन्युः क्रोध एव आक्रोष्टारं दहति ॥५॥
'रुशती वागकल्याणी' इत्यमरः ॥६॥

रूखे वचन मनुष्यों के मर्मस्थान को, हड्डी को, हृदय को, प्राण को जला देते हैं। इस लिये रूखे और क्रोधयुक्त वचनों का धर्माराम (धर्मसेवी) हमेशा त्याग करे ॥ ७ ॥

अरुन्तुदं परुषं रूक्षवाचं वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान् ।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वै वहन्तम् ॥८॥

मर्मस्थल को वेधनेवाला, कठोर और रूखे वचन वाला जो मनुष्यों को वचन रूपी कांटों से वेधता रहता है उसको मनुष्यों में अत्यन्त लक्ष्मी से रहित जाने और मुख में बंधी हुई दरिद्रता को वहन करने वाला जाने ॥ ८ ॥

परश्चेदेनमभिविद्धयेत बाणैर्भृशं सुतीक्ष्णैरनलार्कदीप्तैः ।
स विद्धयमानोऽप्यतिदह्यमानो विद्यात्कविः सुकृतं मे दधाति ॥९॥

यदि शत्रु के अत्यन्त तीक्ष्ण और अग्नि सूर्य के समान प्रदीप्त बाणों से ताड़ित होता है तो वह विद्वान् ताडित हुआ और जलाया जाता हुआ यह समझे कि यह मेरे सुकृत (पुण्य) को पुष्ट करता है ॥ ९ ॥

यदि सन्तं सेवयति यद्यसन्तं तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव ।
वासो यथा रङ्गवशं प्रयाति तथा स तेषां वशमभ्युपैति ॥ १० ॥

सज्जन, दुष्ट, तपस्वी, चोर, इनमें से जिसकी सेवा करता है उसी के समान हो जाता है। जैसे वस्त्र रङ्ग के अनुरूप हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जिस रङ्ग में रङ्गा जाने वाला है वस्त्र उसी रङ्ग के अनुकूल रूप को धारण करता है वैसे ही मनुष्य भी सेव्य के अनुकूल ही हो जाता है ॥ १० ॥

निर्ऋतिं अलक्ष्मीं वा मृत्युं वा ॥८॥ बाणैः वाग्बाणैः दधाति पुष्णाति । ९॥ त्वत्पुत्रा रूक्षवाचः त्वमपि तत्सङ्गात् तादृशो भविष्यसीत्याह-यदीति । रङ्गस्य नीलादेर्वशं नीलताम् ॥ १० ॥

अतिवादं न प्रवदेन्न वादयेद्यो नाहतः प्रतिहन्यान्न घातयेत्।
हन्तुं च यो नेच्छति पापकं वै तस्मै देवाः स्पृहयन्त्यागताय ॥११॥

अत्यन्त विवाद वचनों को न कहे और न कहलावे, दूसरे से मारे जाने पर न स्वयं मारे और न दूसरे से मरवावे। और जो पाप करने वाले को मारने की इच्छा नहीं करता है उसके आने पर देवता लोग उसकी इज्जत करते हैं ॥ ११ ॥

अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः सत्यं वदेद्व्याहृतं तद् द्वितीयम्।
प्रियं वदेद्व्याहृतं तत्तृतीयं धर्म्यं वदेद्व्याहृतं तच्चतुर्थम् ॥१२॥

बोलने की अपेक्षा न बोलने में श्रेय कहा है, अथवा बोलना हो तो सत्य बोलना, यह दूसरा मार्ग है। सत्य हो और प्रिय हो यह तीसरा मार्ग है; सत्य हो, प्रिय हो, और धर्मयुक्त हो यह चतुर्थ मार्ग है। तात्पर्य यह हुआ किया तो मौन रहना, अथवा सत्य बोलना, अथवा सत्य बोलने से बुरा मालूम होता हो तो सत्य और प्रिय बोलना, अथवा सत्य, प्रिय और धर्मयुक्त वचन बोलना सबसे श्रेष्ठ है ॥ १२ ॥

यादृशैः सन्निविशते यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग्भवति पूरुषः ॥ १३ ॥

पुरुष जैसे पुरुष के साथ बैठता है और जैसे पुरुष की सेवा करता है तथा जैसा होने की इच्छा करता है वैसा ही हो जाता है ॥१३॥

अतिप्रोक्तोऽपि न वदेत् वादयेद्वा। अनाहतो नैव प्रतिहन्यात्। आहतोऽपि पापकं हन्तारं यदि हन्तुं नेच्छेत् स देवानामपि श्रेष्ठो भवतीत्यर्थः॥११॥ अव्याहृतं मौनं ततोऽपि श्रेयःसत्यवचनम्। सत्यमपि प्रियं चेत्ततोऽपि श्रेयः। तदपि धर्मादनपेतं चेत् श्रेष्ठतममित्यर्थः ॥ १२ ॥ तस्मात्सत्सङ्ग एव त्वयाऽपि कर्तव्यः इत्याशयेनाह—यादृशैरिति ॥ १३ ॥

यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥ १४ ॥

जिन विषयों से निवृत्त होता जाता है उनसे मुक्त होता जाता है। अतः सर्वत्र से निवृत्त हो जाने पर थोड़ा भी दुःख का भागी नहीं होता है ॥ १४ ॥

न जीयते चानुजिगीषतेऽन्यान्न वैरकृच्चाप्रतिघातकश्च।
निन्दाप्रशंसासु समस्वभावो न शोचते हृष्यति नैव चायम् ॥१५॥

न किसी से जीता जाता है और न किसी को जीतने की इच्छा करता है। न वैर करता है और न किसी के मारने पर मारता है। तथा निन्दा और प्रशंसा में सम-स्वभाव रहता है। दुःख होने पर न शोक करता है और सुख होने पर न प्रसन्न होता है ॥ १५ ॥

भावमिच्छति सर्वस्य नाभावे कुरुते मनः।
सत्यवादी मृदुर्दान्तो यः स उत्तमपूरुषः ॥ १६ ॥

जो दूसरे पुरुष के भाव (कल्याण) की इच्छा करता है और अभाव (अकल्याण) में मन को नहीं करता है, सत्यवादी है, कोमल स्वभाव है, जितेन्द्रिय है वह उत्तम पुरुष कहा जाता है ॥ १६ ॥

नानर्थकं सान्त्वयति प्रतिज्ञाय ददाति च।
रन्ध्रं परस्य जानाति यः स मध्यमपूरुषः ॥ १७ ॥

जो झूठ-मूठ किसी को नहीं समझाता अर्थात् किसी के साथ

यतो यत इति—यथा स्वप्ने बाह्याद् विषयान्निवृत्तः तज्जेन दुःखेन मुच्यते। एवं जाग्रति स्वाप्नविषयजेन सुषुप्तौ समाधौ च सर्वतो निवृत्तो दुःखलेशमपि न भजते अतो निवृत्तिरेव त्वया कार्येति भावः ॥१४॥ अस्यामवस्थायां पुरुषस्य न किञ्चि-द्दुःखादिकमस्तीत्याह—न जीयते चेति। नानुजिगीषते इति पाठे ना पुरुषः॥१५॥ भावं कल्याणम्। अभावे अकल्याणे॥१६॥ अनर्थकं मिथ्या न सान्त्वयति ॥१७॥

बहाने बाजी नहीं करता, और कहकर दे देता है तथा दूसरे के छिद्र को जानता है वह मध्यम पुरुष है॥ १७॥

दुःशासनस्तूपहतोऽभिशस्तो नावर्तते मन्युवशात्कृतघ्नः।
न कस्यचिन्मित्रमथो दुरात्मा कलाश्चैता अधमस्येह पुंसः॥ १८॥

घोषयात्रा के समय गन्धर्वों से ताड़ित हुआ तथा शस्त्रों से विदीर्ण हुआ दुःशासन क्रोध के वश होकर ऋजु नहीं होता, क्योंकि वह कृतघ्न[1] है। दुष्ट लोग किसी के मित्र नहीं होते हैं, अधम पुरुष की चित्तवृत्तियां इसी तरह की हुआ करती हैं॥ १८॥

न श्रद्दधाति कल्याणं परेभ्योऽप्यात्मशङ्कितः।
निराकरोति मित्राणि यो वै सोऽधमपूरुषः॥ १९॥

जो विश्वास हीन पुरुष गुरुजनों के कल्याण की श्रद्धा (चाहना) नहीं करता है और मित्रों को हटाया करता है, वह अधम पुरुष कहा गया है॥ १९॥

उत्तमानेव सेवेत प्राप्तकाले तु मध्यमान्।
अधमांस्तु न सेवेत य इच्छेद्भूतिमात्मनः॥ २०॥

जो अपना कल्याण चाहे तो उत्तम पुरुषों की सेवा करे और समय आने पर अर्थात् आपत्ति काल में मध्यम पुरुषों की सेवा करे, परन्तु अधम पुरुषों की सेवा न करे॥ २०॥

उपहतः गदया घोषयात्रायां गन्धर्वैस्ताडितः। अभिशस्तः अभितः शस्त्रैर्विदीर्णः। मन्युवशात् क्रोधवशात्। नावर्तते न ऋजुर्भवति-यतः कृतघ्नः। पाण्डवैस्तदा मोचितोऽपि तदुपकारं हन्त्येव, एताः कलाः चित्तस्य वृत्तयः अधमस्यैव॥ १८॥ अधमलक्षणमाह-नेति। परेभ्यः गुरुभ्यः। आत्मन्येव शङ्कितः विश्वासहीनः॥१९॥

---

१ पाण्डवों ने ही उस घोषयात्रा के समय गदा से पीटे जाने पर गन्धर्वों से मुक्त किया था। तो भी उस उपकार का नाश कर पाण्डवों के साथ छल किया।

प्राप्नोति वै वित्तमसद्बलेन नित्योत्थानात्प्रज्ञया पौरुषेण ।
न त्वेव सम्यग्लभते प्रशंसां न वृत्तमाप्नोति महाकुलानाम् ॥२१॥

दुष्ट जन के बल से, नित्य के उद्योग से, बुद्धि से, पुरुषार्थ से वित्त को प्राप्त करता है, परन्तु उत्तम प्रशंसा और महान कुलों के आचार को नहीं पा सकता है ॥ २१ ॥

धृतराष्ट्र उवाच ।

महाकुलेभ्यः स्पृहयन्ति देवा धर्मार्थनित्याश्च बहुश्रुताश्च ।
पृच्छामि त्वां विदुर! प्रश्नमेतं भवन्ति वै कानि महाकुलानि ॥२२॥

धृतराष्ट्र विदुर जी से बोले—हे विदुर! मैं आपसे यह प्रश्न पूछता हूँ कि धर्म अर्थ से युक्त और बहुश्रुत (सिद्धान्त के ज्ञाता) ऐसे देवता लोग भी जिन महाकुलों की प्रशंसा करते हैं वे महान् कुल कौन हैं? ॥ २२ ॥

विदुर उवाच ।

तपो दमो ब्रह्मवित्तं वितानाः पुण्या विवाहाः सततान्नदानम् ।
येष्वेवैते सप्त गुणा वसन्ति सम्यग्वृत्तास्तानि महाकुलानि ॥२३॥

विदुर जी धृतराष्ट्र से बोले—जिन कुलों में [1]तप, दम[2], ब्रह्म-वित्त[3], वितान[4], पुण्य, पवित्र विवाह, नित्य अन्नदान, ये सात गुण अच्छी तरह रहते हैं वे ही महाकुल (श्रेष्ठकुल) हैं ॥ २३ ॥

महाकुलेभ्य इति 'स्पृहेरीप्सितः' इति कर्मणि चतुर्थी ॥ २२ ॥ तपः कृच्छ्र-चान्द्रायणादि । दमः इन्द्रियदमः । ब्रह्मवित्तं ब्राह्मणस्य धनं वेदाध्ययनं वेदा-ध्यापनं च । वितानाः यज्ञकर्माणि । सम्यग्वृत्ताः साधु प्रचलिताः । तानि महाकुलानि विद्धि ॥ २३ ॥

---

१ कृच्छ्र चान्द्रायण आदि । २ इन्द्रियों का निग्रह । ३ ब्राह्मणों का धन अर्थात् वेदाध्ययन और वेदाध्यापन । ४ यज्ञकर्म ।

येषां न वृत्तं व्यथते न योनिश्चित्तप्रसादेन चरन्ति धर्मम् ।
ये कीर्तिमिच्छन्ति कुले विशिष्टां त्यक्तानृतास्तानि महाकुलानि॥२४॥

जिनका व्यवहार निन्दा से बदलता नहीं और न [1]कारण (पित्रादि) ही पीड़ित होते हैं। चित्त की प्रसन्नता से धर्म को करते हैं। और जो श्रेष्ठ कुल की कीर्ति की इच्छा करते हैं, असत्य वचन का त्याग किये हैं वे महाकुल कहे जाते हैं ॥ २४ ॥

अनिज्यया कुविवाहैर्वेदस्योत्सादनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति धर्मस्यातिक्रमेण च ॥ २५ ॥

यज्ञादिकों के न करने से, निन्दित विवाहों के करने से, वेद के त्याग से और धर्म के उल्लङ्घन से कुल असत्कुलता को प्राप्त होते हैं ॥२५॥

देवद्रव्यविनाशेन ब्रह्मस्वहरणेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ २६ ॥

देवद्रव्य को नष्ट करने से, ब्राह्मण के द्रव्य का अपहरण करने से और ब्राह्मणों का उल्लङ्घन करने से कुल अकुलता को प्राप्त होते हैं ॥ २६ ॥

ब्राह्मणानां परिभवात्परिवादाच्च भारत ।
कुलान्यकुलतां यान्ति न्यासापहरणेन च ॥ २७ ॥

हे भारत ! ब्राह्मणों के परिभव (अपमान) से और परिवाद (निन्दा) से तथा न्यास (धरोहर) के अपहरण करने से कुल अकुलता को प्राप्त हाते हैं ॥ २७ ॥

न व्यथते न चलति। न योनिः पित्रादयोऽपि येषां दोषेण न व्यथन्ते किन्तु गुणैरेव तुष्यन्ति ॥ २४ ॥ परिभवादनादरात् । परिवादात् निन्दातः ॥ २७ ॥

---

१ जिनके दोष से पिता आदि पीड़ित नहीं होते हैं।

कुलानि समुपेतानि गोभिः पुरुषतोऽर्थतः ।
कुलसंख्यां न गच्छन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥ २८ ॥

जो कुल आचार से हीन हैं वे कुल यदि गोभिः अर्थात् विद्या से सम्पन्न हैं, और सत्पुरुषों से तथा धन से युक्त हैं तो भी कुलों की गणना में नहीं आते हैं ॥ २८ ॥

वृत्ततस्त्वविहीनानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ॥ २९ ॥

जो वृत्त (आचार धर्म) से युक्त कुल हैं वे अल्प धन होने पर भी कुलों की गणना में आ जाते हैं और महान् यश के भागी होते हैं ॥२९॥

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद्वित्तमेति च याति च ।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥ ३० ॥

वृत्त अर्थात् आचार की यत्न पूर्वक रक्षा करे, धन की रक्षा में न लगा रहे, क्योंकि धन कभी आ जाता है और कभी चला जाता है। धनहीन मनुष्य क्षीण नहीं होता है, परन्तु आचार से हीन मनुष्य मृतक के समान है अर्थात् मरा हुआ है ॥ ३० ॥

गोभिः पशुभिरश्वैश्च कृष्या च सुसमृद्धया ।
कुलानि न प्ररोहन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥ ३१ ॥

जो कुल आचार से हीन हैं वे कुल विद्या, पशु, घोड़ा, उत्तम खेती से वृद्धि को नहीं प्राप्त होते हैं ॥ ३१ ॥

मा नः कुले वैरकृत्कश्चिदस्तु राजामात्यो मा परस्वापहारी ।
मित्रद्रोही नैकृतिकोऽनृती वा पूर्वाशी वा पितृदेवातिथिभ्यः ॥३२॥

गोभिर्वाग्भिः विद्ययेत्यर्थः । पुरुषतः सत्पुरुषैः अर्थतः धनैश्च कुलानि कुलसंख्यां कुलेषु गणनां समुपेतानि भवन्ति ॥ २८ ॥ वृत्ततः धर्मेण कर्षन्ति आहरन्ति ॥२९॥ गोभिः विद्याभिः॥३१॥ नैकृतिकः कपटी। वैरकृदादयः कुलघ्ना

हमारे कुल में कोई भी राजा, या मन्त्री दूसरे के साथ वैर करने वाला न होवे, और दूसरे के धन का अपहरण करने वाला न होवे, तथा मित्र के साथ द्रोह करने वाला न होवे, नैकृतिक अर्थात् कपटी न होवे, मिथ्या भाषण करने वाला न होवे, और पितर देवता अतिथि के भोजन के पूर्व भोजन करने वाला न होवे॥ ३२॥

यश्च नो ब्राह्मणान्हन्याद्यश्च नो ब्राह्मणान् द्विषेत्।
न नः स समितिं गच्छेद्यश्च नो निर्वपेत्कृषिम्॥ ३३॥

जो ब्राह्मणों का वध करने वाला हो, ब्राह्मणों के साथ द्वेष करने वाला हो, युद्ध के समय युद्ध में न जानेवाला हो, और खेती कर्म को न करने वाला हो तो ऐसा मनुष्य हमारे कुल में न होवे॥ ३३॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ ३४॥

तृण अर्थात् आसन, भूमि अर्थात् स्थान, जल, सत्य वचन ये चार सज्जनों के घर से कभी पृथक् नहीं होते हैं, किन्तु सज्जन अतिथि की सेवा करते ही हैं॥ ३४॥

श्रद्धया परया राजन्नुपनीतानि सत्कृतिम्।
प्रवृत्तानि महाप्राज्ञ! धर्मिणां पुण्यकर्मिणाम्॥ ३५॥

हे राजन्! हे महाप्राज्ञ! सत्कार के लिये होने वाले ये चार साधन धर्मात्माओं के यहां हमेशा परम श्रद्धा से उपस्थित रहते हैं अर्थात् तैय्यार रहते हैं॥ ३५॥

इत्यर्थः॥ ३२॥ प्रसङ्गात् वृत्तलक्षणमाह—यश्चेति। न इति अस्मच्छब्दस्यादेशश्चतुष्टयं न नः स इति पाठे। न तस्येति पाठे तु त्रयमेव निर्वपेत् कुर्यात्। पितॄन् इति पाठे नो निषेधार्थः॥ ३३॥ नोच्छिद्यन्ते किन्तु अतिथीनुपगच्छन्त्येव॥ ३४॥ सत्कृतिं सत्कारं कर्तुं प्रवृत्तानि तृणादीनि॥ ३५॥

सूक्ष्मोऽपि भारं नृपते! स्यन्दनो वै शक्तो वोढुं न तथान्ये महीजाः ।
एवं युक्ता भारसहा भवन्ति महाकुलीना न तथाऽन्ये मनुष्याः ॥३६॥

हे नृपते! जैसे छोटा सा भी रथ भार के वहन करने में समर्थ होता है वैसे ही दूसरे पृथ्वी से उत्पन्न होने वाले वहन करने में समर्थ नहीं होते। इसी तरह जैसे रथ के समान युक्त अर्थात् भार वहन करने में तत्पर तथा भार को सहने वाले श्रेष्ठकुल में उत्पन्न लोग ही होते हैं वैसे अन्य मनुष्य नहीं होते हैं ॥ ३६ ॥

न तन्मित्रं यस्य कोपाद्बिभेति यद्वा मित्रं शङ्कितेनोपचर्यम् ।
यस्मिन्मित्रे पितरीवाश्वसीत तद्वै मित्रं सङ्गतानीतराणि ॥ ३७ ॥

जिसके क्रोध से भय हो वह मित्र नहीं है, अथवा जिसकी सेवा शङ्कित[1] चित्त से की जाय वह भी मित्र नहीं है। और जिस मित्र में पिता के समान विश्वास किया जाय वह मित्र है। बाकी जितने हैं वे सब सम्पर्क मात्र के ही मित्र हैं ॥ ३७ ॥

यः कश्चिदप्यसम्बद्धो मित्रभावेन वर्तते ।
स एव बन्धुस्तन्मित्रं सा गतिस्तत्परायणम् ॥ ३८ ॥

जो कोई कुल बन्धुत्व आदि [2]न होने पर भी बिना स्वार्थ मित्र भाव से बर्तता है वही बन्धु है, वही मित्र है, वही गति है, और वही आश्रय है ॥ ३८ ॥

युक्ताः स्यन्दनवदविकलाः ॥ ३६ ॥ प्रकृतमाह—न तदिति । तव तु शङ्काकुलस्य मय्यपि मित्रत्वबुद्धिर्नास्तीति भावः । सङ्गतानि सम्बन्धमात्राणि ॥ ३७ ॥ मूर्खस्य तु दुर्योधनादेः स्वार्थमात्रपरायणः कर्णादिर्मित्रभावेन अस्तीत्याशयेनाह—य इति । बन्धुः सम्बन्धी । मित्रं उपकारकृत् ॥ ३८ ॥

---

१ शङ्का से व्याकुल होने के कारण आपकी (धृतराष्ट्र की) मित्रत्व बुद्धि हमारे विषय में भी नहीं है। २ आपके यहाँ दुर्योधन का सम्बन्ध औरों से ऐसा नहीं है।

चलचित्तस्य वै पुंसो वृद्धाननुपसेवतः।
पारिप्लवमतेर्नित्यमध्रुवो मित्रसंग्रहः ॥ ३९ ॥

चञ्चल चित्त वाले पुरुष का, वृद्धों की सेवा न करने वाले का, पारिप्लव (चञ्चल) बुद्धि वाले मनुष्य का मित्रों के साथ सम्बन्ध हमेशा अनिश्चित ही होता है ॥ ३९ ॥

चलचित्तमनात्मानमिन्द्रियाणां वशानुगम्।
अर्थाः समभिवर्तन्ते हंसाः शुष्कं सरो यथा ॥ ४० ॥

जैसे हंस शुष्क (सूखे) तालाब के चारो तरफ बने रहते हैं परन्तु उस तालाब का स्पर्श नहीं करते हैं वैसे ही चञ्चल चित्त वाले, दुष्टात्मा, इन्द्रियों के अधीन होकर चलने वाले मनुष्यों के चारों तरफ अर्थ बने रहते हैं किन्तु स्पर्श नहीं करते हैं ॥ ४० ॥

अकस्मादेव कुप्यन्ति प्रसीदन्त्यनिमित्ततः।
शीलमेतदसाधूनामभ्रं पारिप्लवं यथा ॥ ४१ ॥

अकस्मात् (सहसा) क्रुद्ध होना, निष्कारण प्रसन्न होना, ऐसा चञ्चल स्वभाव दुष्ट पुरुषों का ही होता है। जैसे चञ्चल स्वभाव मेघ का होता है ॥ ४१ ॥

सत्कृताश्च कृतार्थाश्च मित्राणां न भवन्ति ये।
तान्मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते ॥ ४२ ॥

जो सत्कार किये जाने पर तथा मनोरथ के पूर्ण किये जाने पर भी मित्रों के हित के लिये तत्पर नहीं होते हैं उन कृतघ्नों के मरने पर क्रव्याद् अर्थात् मांस-भोक्ता गृध्र काक आदि भी उनके शरीर के मांस को भी नहीं खाते हैं ॥ ४२ ॥

पारिप्लवमतेः चलबुद्धेः ॥ ३९ ॥ समभिवर्तन्ते सम्यगभित एव वर्तन्ते न तु स्पृशन्ति। समतिवर्तन्ते इत्यपि पठन्ति ॥ ४० ॥ अभ्रं मेघः ॥ ४१ ॥ मित्राणां न भवन्ति—हितायेति शेषः ॥ ४२ ॥

अर्चयेदेव मित्राणि सति वाऽसति वा धने ।
नानर्थयन्प्रजानाति मित्राणां सारफल्गुताम् ॥ ४३ ॥

धन के होने या न होने पर भी मित्रों का पूजन (सत्कार) अवश्य करे। प्रार्थना रहित होकर मित्रों के सार अथवा असार को जानने की चेष्टा न करे। अर्थात् लोभ[1] वश अपने कार्य के लिये ही मित्रता न करे ॥ ४३ ॥

सन्तापाद्भ्रश्यते रूपं सन्तापाद्भ्रश्यते बलम् ।
सन्तापाद्भ्रश्यते ज्ञानं सन्तापाद् व्याधिमृच्छति ॥ ४४ ॥

सन्ताप से अर्थात् इष्टवस्तु के वियोग होने पर शोक के करने पर रूप बिगड़ जाता है और सन्ताप से बल भी घट जाता है तथा सन्ताप से ज्ञान भी क्षीण हो जाता है और सन्ताप से व्याधि को प्राप्त करता है ॥ ४४ ॥

अनवाप्यं च शोकेन शरीरं चोपतप्यते ।
अमित्राश्च प्रहृष्यन्ति मा स्म शोके मनः कृथाः ॥ ४५ ॥

अनर्थयन् प्रार्थनाशून्यः लुब्धस्तु मित्राणां सारफल्गुत्वेन जानातीत्यतः स कार्यार्थी वणिक्तुल्यो न तु मित्रम् ॥ ४३ ॥ सन्तापात् इष्टवियोगात् शोकात् ॥ ४४ ॥ अनवाप्यं न प्राप्यम् । शोकेन शोकमात्रेण इष्टमिति शेषः ॥ ४५ ॥

---

१ लोभी मनुष्य अपने कार्य के लिए मित्रों का सम्बन्ध करता है। कार्य के हो जाने पर उसका त्याग कर देता है। इसलिए वह कार्य का लोभी वणिक्-जन के समान है न कि वह मित्र है। किसी कवि ने कहा है—'आदौ नम्रः पुनर्नम्रः कार्यकाले च निष्ठुरः ॥ कार्यं कृत्वा पुनर्नम्रः शिश्नतुल्यो वणिग्जनः ॥' वणिक् कार्य के पूर्व में नम्र, फिर भी नम्र होते हैं परन्तु कार्य के समय निष्ठुर होते हैं और कार्य हो जाने पर फिर नम्र हो जाते हैं इसलिए शिश्न के समान ये कहे जाते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि ये अपने कार्य के साथी होते हैं।

शोक के करने मात्र से इष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु शरीर को सन्ताप होता है और अमित्र अर्थात् शत्रु प्रसन्न होते हैं। इसलिये आप शोक में मन को नहीं लगावें॥ ४५॥

पुनर्नरो म्रियते जायते च पुनर्नरो हीयते वर्द्धते च।
पुनर्नरो याचति याच्यते च पुनर्नरः शोचति शोच्यते च॥ ४६॥

इस[1] संसार में मनुष्य मरता है और जन्म लेता है, क्षीण होता है और फिर बढ़ता है अर्थात् दरिद्र होता है और फिर धनी होता है, दूसरों से याचना करता है और फिर दूसरों से याचना किया जाता है अर्थात् उसके यहां दूसरे लोग आकर याचना करते हैं; और दूसरे के लिये शोक करता है तथा फिर वही दूसरों से शोक का पात्र स्वयं हो जाता है॥ ४६॥

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च लाभालाभौ मरणं जीवितं च।
पर्यायशः सर्वमेते स्पृशन्ति तस्माद्धीरो न च हृष्येन्न शोचेत्॥४७॥

सुख और दुःख, उत्पत्ति और नाश, लाभ और हानि, मरण और जीवन ये सब क्रम से पुरुषमात्र को होते हैं इसलिये धीर होकर रहे। सुख के होने पर प्रसन्न और दुःख के होने पर शोक-ग्रस्त नहीं होवे॥ ४७॥

चलानि हीमानि षडिन्द्रियाणि तेषां यद्यद्वर्द्धते यत्र यत्र।
ततस्ततः स्रवते बुद्धिरस्य छिद्रोदकुम्भादिव नित्यमम्भः॥ ४८॥

जिस पुरुष की पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और छठा मन ये चञ्चल इन्द्रियां जहां २ पहुँचकर बढ़ती रहती हैं वहां २ उस मनुष्य की बुद्धि टपकती

दुःखादेरागमापायित्वादपि न शोकादिकं कर्तव्यमित्याह—पुनरिति॥४६॥ सर्वं पुरुषमात्रम्॥४७॥ मनसा सह श्रोत्रादीनि पञ्च यत्र यान्ति बुद्धिः स्वार्थाद् भ्रश्यति

---

[1] विदुर जी ने धृतराष्ट्र के प्रति इस श्लोक से यह कहा कि ये दुःखसुख आदि धर्म आगमापायी हैं अर्थात् हमेशा रहने वाले नहीं हैं इसलिये आप शोक न करें।

रहती है अर्थात् विषयों के सेवन से स्वार्थ से गिर जाती है। जैसे फूटे कलश से नित्य जल टपकता रहता है॥ ४८॥

धृतराष्ट्र उवाच।

तनुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरितो मया।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति॥ ४९॥

धृतराष्ट्र ने विदुर जी से कहा कि—जैसे काष्ठ में छिपी हुई आग युद्ध (संघर्ष) से वृक्षों का नाश कर देती है इसी तरह यह राजा युधिष्ठिर जो कि धर्म से अवरुद्ध है और मुझसे किये जाने वाले मिथ्या व्यवहार का पात्र हो चुका है वह हमारे मूर्खपुत्र दुर्योधनादिकों का युद्ध से नाश करेगा॥ ४९॥

नित्योद्विग्नमिदं सर्वं नित्योद्विग्नमिदं मनः।
यत्तत्पदमनुद्विग्नं तन्मे वद महामते!॥ ५०॥

हे महामते! यह सब चराचर जगत् नित्य उद्विग्न अर्थात् भयभीत और चञ्चल रहता है और यह मन भी नित्य उद्विग्न रहता है। इस लिए जो अनुद्विग्न अर्थात् अभय और अचल पद अर्थात् प्राप्य ब्रह्म है उसको मुझसे कहिये॥ ५०॥

विदुर उवाच।

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्।
नान्यत्र लोभसन्त्यागाच्छान्तिं पश्यामि तेऽनघ॥ ५१॥

विदुर जी धृतराष्ट्र से बोले—हे अनघ! अर्थात् पापरहित! विद्या अर्थात् शास्त्राभ्यास से होने वाला ज्ञान, और तप अर्थात् स्वधर्म का

ततो विषयसेवनात्॥ ४८॥ तनुः शरीरमभिव्यक्तिस्थानं काष्ठं तत्र रुद्धोऽनभिव्यक्तः शिखी अग्निः तथाऽयं राजा धर्मेण रुद्धः, तनुना सूक्ष्मेण धर्मेण वा रुद्धः॥४९॥ उद्विग्नं भीतं चलितं च। अनुद्विग्नं अभयमचलं च। पदं पदनीयं प्राप्यं ब्रह्म॥५०॥ तत्प्राप्तिसाधनान्येवाह—नान्यत्रेति। विद्या अध्ययनजा। तपः स्वधर्माचरणम्। त्वं तु लोभी तत्पदं प्राप्तुमनर्हः, इति भावः। शान्तिं कल्याणम्॥५१॥

आचरण इनके बिना और इन्द्रियनिग्रह के बिना, तथा लोभ[1] त्याग के बिना आपको शान्ति का होना मैं नहीं देखता हूँ ॥ ५१ ॥

बुद्ध्या भयं प्रणुदति तपसा विन्दते महत्।
गुरुशुश्रूषया ज्ञानं शान्तिं योगेन विन्दति ॥ ५२ ॥

मनुष्य बुद्धि से भय को हटाता है, तप से अर्थात् स्वधर्माचरण से महत्त्व को प्राप्त होता है, गुरु-सेवा से ज्ञान को प्राप्त करता है और योग अर्थात् चित्त-वृत्तियों के निरोध से शान्ति को प्राप्त करता है ।५२॥

अनाश्रिता दानपुण्यं वेदपुण्यमनाश्रिताः।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता विचरन्तीह मोक्षिणः ॥५३॥

मोक्ष धर्म को चाहने वाले मनुष्य दान धर्म को करते हैं, परन्तु उसके फल में आसक्त नहीं होते, तथा वेदाध्ययन करते हैं परन्तु वेदाध्ययन से होने वाले फल में आसक्त नहीं होते हैं। और राग तथा द्वेष से रहित होकर इस पृथ्वी पर विचरते हैं ॥ ५३ ॥

स्वधीतस्य सुयुद्धस्य सुकृतस्य च कर्मणः।
तपसश्च सुतप्तस्य तस्यान्ते सुखमेधते ॥५४॥

अच्छी तरह वेदादि के अध्ययन के अन्त में, और अच्छी तरह

बुद्ध्या आत्म-ज्ञानेन भयं संसारं विन्दते महत्सद्गुरुशास्त्रादिकं लभते। ततो गुरुशुश्रूषया ज्ञानं ग्रन्थजम्। योगेन सर्वचित्तवृत्तिनिरोधेन शान्तिम् ॥ ५२ ॥ शान्तिप्राप्तौ सर्वं तुच्छमित्याह–अनाश्रिता इति। दानजं पुण्यं तत्फलं स्वर्गादीत्यर्थः। अनाश्रिताः नाश्रयन्ते तुच्छत्वात्तस्य ॥५३॥ तस्यान्ते स्वधीतादीनां कर्मणामन्ते नाशे सुखं परमानन्दं विन्दते। जगत्कारणदर्शनादेव सकलकर्मनाशे सति अकारणं शुद्धं प्राप्नोतीत्यर्थः। 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे'।

---

१ हे धृतराष्ट्र! तुम लोभी हो इससे उस पद के योग्य नहीं हो।

युद्ध करने के बाद, तथा पुण्यकर्म के करने पर, और अच्छी तरह सुतप्त तपस्या के अन्त में [1]सुख की वृद्धि होती है ॥ ५४ ॥

स्वास्तीर्णानि शयनानि प्रपन्ना न वै भिन्ना जातु निद्रां लभन्ते ।
न स्त्रीषु राजन्! रतिमाप्नुवन्ति न मागधैः स्तूयमाना न सूतैः ॥ ५५ ॥

हे राजन्! जाति के साथ भेद (विरोध) के होने से मनुष्य को सुन्दर बिछी हुई शय्या के होने पर भी कभी नींद नहीं आती है, और स्त्री के साथ रति का सुख भी नहीं होता, तथा मागध सूत आदिकों से स्तुति किये जाने पर भी सुख लेशमात्र भी नहीं होता ॥ ५५ ॥

न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः ।
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति ॥ ५६ ॥

जाति-भेद को प्राप्त मनुष्य धर्म को कभी नहीं करते हैं, और जाति से भिन्न मनुष्य इस लोक में सुख को कभी नहीं पाते हैं, तथा जाति भिन्न मनुष्य गौरव को भी नहीं पाते हैं, और जाति-भिन्न मनुष्य शान्ति के प्रेमी नहीं होते हैं ॥ ५६ ॥

न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम् ।
भिन्नानां वै मनुजेन्द्र! परायणं न विद्यते किञ्चिदन्यद्विनाशात् ॥ ५७ ॥

जाति-भिन्न मनुष्यों को हित वचन प्रिय नहीं लगते हैं, और उन

परो हिरण्यगर्भोऽवरो नीचो यस्मात्कारणात्तस्मिन् दृष्टे सति ॥ ५४ ॥ तदन्यद्दुःखरूपमेवेत्याह—स्वास्तीर्णानीति । भिन्नाः भेददृष्टिमन्तः । 'द्वितीयाद्वै भयति' इति श्रुतेरद्वैततत्त्वात् प्रच्युता इत्यर्थः । पक्षे भिन्नाः ज्ञातिभेदवन्तः ॥ ५५ ॥ प्रशमं अक्रोधम् ॥ ५६ ॥ योगः अलब्धलाभः, क्षेमं लब्धपरिपालनं तदुभयं न कल्पते न

---

[1] वेदाध्ययन, धर्मयुद्ध, पुण्यकर्म, तपस्या आदि कर्म के नाश होने पर परमानन्द सुख की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह हुआ कि जगत्-कारण (ब्रह्म) के दर्शन से ही सकल कर्म के नाश होने पर अकारण (जिसका कोई कारण नहीं है) जो शुद्ध ब्रह्म है उसको प्राप्त होता है।

जाति-भिन्न मनुष्यों का योग क्षेम भी नहीं होता है। हे मनुजेन्द्र! जाति-भिन्न मनुष्य का विनाश के अतिरिक्त (अलावा) दूसरा कुछ भी परिणाम नहीं होता है अर्थात् उनका विनाश होना ही परिणाम है ॥ ५७ ॥

सम्पन्नं गोषु सम्भाव्यं सम्भाव्यं ब्राह्मणे तपः।
सम्भाव्यं चापलं स्त्रीषु सम्भाव्यं ज्ञातितो भयम् ॥५८॥

गौओं में दुग्धादि सम्पत्ति का होना, ब्राह्मणों में तप का होना, स्त्रियों में चपलता का होना और जाति वालों से भय का होना आवश्यक है ॥ ५८ ॥

तन्तवोऽप्यायिता नित्यं तनवो बहुलाः समाः।
बहून्बहुत्वादायासान्सहन्तीत्युपमा सताम् ॥५९॥

ये कुलतन्तु पाण्डव तुमसे रक्षित होकर बढ़े हैं जो कि बहुत वर्ष पर्यन्त बालक थे। वे पाण्डव वन में बहुत ऋषियों के साथ कष्ट सहते हैं। इसी लिए वे पाण्डव सज्जनों के उपमा रूप हो रहे हैं। लोक में पाण्डवों के समान ही सन्त लोग हुआ करते हैं ऐसा लोग कहते हैं। इस लिये श्रेष्ठ पाण्डव ठगने के योग्य नहीं हैं ॥ ५९ ॥

धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ ॥ ६० ॥

हे धृतराष्ट्र! हे भरतर्षभ! जैसे उल्मुक (लुआठी) पृथक् होने से

युज्यते ॥ ५७ ॥ तदेवाह—सम्पन्नमिति सम्पन्नं क्षीरादिसम्पत्तिः ॥ ५८ ॥ तन्तवः कुलतन्तवः पाण्डवाः आप्यायिताः त्वयैव संवर्द्धिताः। पूर्वरूपमार्षम्। तनवः सूक्ष्माः बालाः इत्यर्थः। बहुलाः समाः बहून् संवत्सरान्। बहुत्वात् बन्धूनामन्येषां च ऋषीणां बहुत्वात् वने आयासान् सहन्ति अतः सतां उपमा भवन्ति—'पाण्डवा इव सन्तः' इति लोके वदन्ति। अतः सत्तमाः पाण्डवाः त्वया न वञ्चनीयाः, इति भावः ॥५९॥ अन्ये तु ज्ञातयो न पाण्डवतुल्याः इत्याह—धूमायन्ते

धुँआ करते हैं और एक में मिला देने से जलने लग जाते हैं वैसे ही जाति के प्राणी भी पृथक् होने से सुलगा करते हैं अर्थात् भीतर जलते रहा करते हैं। यदि एक में मिल जाते हैं अर्थात् समुदित हो जाते हैं तो प्रज्वलित होने लगते हैं अर्थात् [1]प्रतापशाली गिने जाते हैं ॥६०॥

ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च ।
वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र ! पतन्ति ते ॥ ६१ ॥

हे धृतराष्ट्र ! जो लोग ब्राह्मणों के साथ वीरता दिखलाते हैं, स्त्रियों के साथ, जाति वालों के साथ, गौओं के साथ वीरता दिखलाते हैं वे लोग वृन्त (फल-बन्धन) अर्थात् वृक्ष के डार से पके फल के समान नीचे को गिर जाते हैं अर्थात् [2]उनका अधःपतन हो जाता है ॥६१॥

महानप्येकजो वृक्षो बलवान् सुप्रतिष्ठितः ।
प्रसह्य एव वातेन सस्कन्धो मर्दितुं क्षणात् ॥ ६२ ॥

अच्छी तरह स्थित वृक्ष बलवान् और महान् होकर भी अकेला होने के कारण वायु से अच्छी तरह स्कन्धों के साथ ही क्षणभर में मर्दित कर दिया जाता है ॥ ६२ ॥

इति । व्यपेतानि पृथग्भूतानि ॥६०॥ ब्राह्मणादिसाहचर्यात् ज्ञातयोऽप्यत्र अयुद्धार्थिन एव ग्राह्याः तादृशांश्च पाण्डवान् जिघांसन्तः सुयोधनादयः पतिष्यन्त्येवेत्यर्थः ॥ ६१ ॥ एकजः एकाकी । प्रसह्यः शक्यः ॥ ६२ ॥

---

१ तात्पर्य यह हुआ कि दूसरे लोग पाण्डवों के समान नहीं हैं, इस लिये उल्मुक के समान धूम करने वाले भी दूसरे लोग ही हैं, अर्थात् ये बातें दुर्योधनादिकों में ही हैं ।

२ तात्पर्य यह हुआ कि ब्राह्मणों के समान जातिवाले भी वे ही लोग हैं जो युद्ध को नहीं चाहते हैं। यहाँ पाण्डव भी युद्ध की चाहना नहीं करते हैं इसलिये उनके वध की इच्छा करने वाले अवश्य नष्ट हो जायंगे ।

अथ ये सहिता वृक्षाः संघशः सुप्रतिष्ठिताः।
ते हि शीघ्रतमान् वातान् सहन्तेऽन्योन्यसंश्रयात् ॥६३॥

और जो वृक्ष वन में एक साथ परस्पर एक दूसरे के समीप होकर समूह रूप से स्थित और मिले हुए के समान होते हैं वे बड़े वेगशाली वायु के वेग को सह लिया करते हैं ॥ ६३ ॥

एवं मनुष्यमप्येकं गुणैरपि समन्वितम्।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते वायुर्द्रुममिवैकजम् ॥ ६४ ॥

इसी तरह गुणों से युक्त भी है परन्तु अकेला है, इस लिये शत्रु लोग उसको नष्ट करने में अपने को समर्थ मानते हैं जैसे वायु एक वृक्ष को उखाड़ने में समर्थ होता है॥ ६४ ॥

अन्योन्यसमुपष्टम्भादन्योन्यापाश्रयेण च।
ज्ञातयः सम्प्रवर्द्धन्ते सरसीवोत्पलान्युत ॥ ६५ ॥

परस्पर मिलाप के होने से और परस्पर एक दूसरे के आश्रय करने से जाति के लोग तालाब के कमल के समान अच्छी तरह बढ़ते रहते हैं ॥ ६५ ॥

अवध्या ब्राह्मणा गावो ज्ञातयः शिशवः स्त्रियः।
येषां चान्नानि भुञ्जीत ये च स्युः शरणागताः ॥ ६६ ॥

ब्राह्मण, गौ, जाति के लोग, शिशु, स्त्रियां और अन्नदाता तथा शरणागत ये सब अवध्य कहे गये हैं ॥ ६६ ॥

न मनुष्ये गुणः कश्चिद्राजन्! सधनतामृते।
अनातुरत्वाद्भद्रं ते मृतकल्पा हि रोगिणः ॥ ६७ ॥

हे राजन्! मनुष्यों में सधनता और अरोगता के सिवाय और दूसरा गुण नहीं है अर्थात् इनके समान दूसरा गुण नहीं माना

सधनतां ऋते विना, अनातुरत्वात् ऋते च भद्रं ते अस्तु इत्याशी-

जाता। आपमें ये गुण हैं इसलिये आपका कल्याण हो। क्योंकि जो रोगी हैं वे लोग मृतक के समान हुआ करते हैं॥ ६७॥

अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि पापानुबन्धं परुषं तीक्ष्णमुष्णम्।
सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो मन्युं महाराज! पिब प्रशाम्य॥६८॥

हे महाराज! आप मन्यु अर्थात् क्रोध को पान करें और शान्त होवें। क्योंकि यह दीनता विना व्याधि के ही पैदा होती है, और कटु स्वभाव है, तथा शिर में पीडा को पैदा करती है, और पाप से सम्बन्ध करती है, कठोर है अर्थात् रूक्ष है, तीक्ष्ण (छेदक) है, उष्ण (दुःसह स्पर्श वाली) है, सज्जनों का पेय (पीने योग्य) है। परन्तु उसका दुष्ट लोग नहीं पान करते हैं॥ ६८॥

रोगार्दिता न फलान्याद्रियन्ते न वै लभन्ते विषयेषु तत्त्वम्।
दुःखोपेता रोगिणो नित्यमेव न बुद्धयन्ते धनभोगान्न सौख्यम्॥६९॥

रोग से पीड़ित मनुष्य पुत्रादि सुखों का आदर नहीं करते हैं और विषयों के तत्त्व को भी नहीं प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि रोगी मनुष्य नित्य दुःख से युक्त रहा करते हैं। इस लिये न तो धन-भोग का और न किसी प्रकार के सुख का ही ज्ञान होता है॥ ६९॥

पुरा ह्युक्तं नाकरोस्त्वं वचो मे द्यूते जितां द्रौपदीं प्रेक्ष्य राजन्!।
दुर्योधनं वारयेत्यक्षवत्यां कितवत्वं पण्डिता वर्जयन्ति॥ ७०॥

वंचनमाप्तसूचनार्थम्॥६७॥ धनवान् अनातुरश्च त्वं गुणी सन् शमं प्राप्नुहीत्याह-अव्याधिजमिति। कटुकं अरोचकम्। परुषं रूक्षम्। तीक्ष्णं छेदकम्। उष्णं दुःसह-स्पर्शम्। पेयं गिलनीयम्। मन्युं क्रोधम्। 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इति कोशात्। प्रशाम्य शान्तिं क्षमां प्राप्नुहि॥६८॥ सन्तापाद् व्याधिमृच्छतीत्युक्तमतस्तौ द्वावपि निन्दति-फलानि पुत्रपश्वादीनि। तत्त्वमिष्टानिष्टविवेकं पित्तोपहतरसनत्वात्। एवं सर्वत्र। भोगः स्त्र्यादिसङ्गः। धनादिजं सुखं लब्धमपि न बुध्यन्ते। अतः सन्तापं जागरादिद्वारा रोगोत्पादकं त्यजेत्यर्थः॥ ६९॥ कितवत्वं द्यूतप्रियत्वम्॥७०॥

हे राजन् ! जूआ में द्रौपदी को जीती हुई देखकर मैंने आपको इस विषय में कहा था-परन्तु आपने मेरी बात नहीं मानी। पण्डित लोग जूआड़ी का काम (जूआ खेलना) नहीं करते हैं इस लिये द्यूतकर्म से दुर्योधन को अलग करिये ॥ ७० ॥

न तद्बलं यन्मृदुना विरुध्यते सूक्ष्मो धर्मस्तरसा सेवितव्यः ।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्रीर्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ॥७१॥

वह बल नहीं है जो कोमल स्वभाव से विरुद्ध हो, और धर्म सूक्ष्म भी बलपूर्वक सेवन करने योग्य है। क्रूर पुरुष से सम्बद्ध होकर लक्ष्मी नाश को प्राप्त होती है और कोमल स्वभाव से युक्त लक्ष्मी प्रौढ़ होकर पुत्र पौत्र तक जाती है ॥ ७१ ॥

धार्तराष्ट्राः पाण्डवान् पालयन्तु पाण्डोः सुतास्तव पुत्रांश्च पान्तु ।
एकारिमित्राः कुरवो ह्येककार्या जीवन्तु राजन्! सुखिनः समृद्धाः ॥७२॥

हे राजन् ! आपके पुत्र दुर्योधनादि पाण्डवों की रक्षा करें और पाण्डु के पुत्र युधिष्ठिरादि आपके पुत्रों की रक्षा करें। तथा एक ही शत्रु मित्र वाले और एक कार्य के करने वाले होकर समृद्धि को प्राप्त हों तथा सुखपूर्वक जीवित रहें ॥ ७२ ॥

मेढीभूतः कौरवाणां त्वमद्य त्वय्याधीनं कुरुकुलमाजमीढ ! ।
पार्थान् बालान् वनवासप्रतप्तान् गोपायस्व स्वं यशस्तात! रक्षन्॥७३॥

हे आजमीढ ! इस समय तुम कौरवों के मध्य में मेढ़ के समान हो, क्योंकि यह कुरुकुल तुम्हारे अधीन है। हे तात ! अपने यश की रक्षा करते हुये वनवास से सन्तप्त इन बालक पाण्डवों की रक्षा करो॥७३॥

मृदुना सहिष्णुना । धर्मः दायविभागाख्यः । क्रूरे त्वत्पुत्रे समाहिता । मृदुना युधिष्ठिरेण प्रौढा सती ॥ ७१ ॥ मेढीभूतः स्वयं निर्व्यापारोऽपि परितः संचरमाणानां बलीवर्दानामिव पुत्राणां यथेष्टप्रचारनिरोधकः ॥ ७३ ॥

सन्धत्स्व त्वं कौरव पाण्डुपुत्रैर्मा तेऽन्तरं रिपवः प्रार्थयन्तु ।
सत्ये स्थितास्ते नरदेव ! सर्वे दुर्योधनं स्थापय त्वं नरेन्द्र ! ॥७४॥

इति श्रीमहाभारते प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये
षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥ [४]

हे कौरव ! पाण्डुपुत्रों के साथ सन्धि करो, जिससे तुम्हारे परस्पर भेद की शत्रुलोग चाहना न करें । हे नरदेव ! वे सब पाण्डव सत्य में स्थित हैं इसलिये हे नरेन्द्र ! आप दुर्योधन को सत्य में स्थित करें ॥७४॥

इति श्रीमहाभारते प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये व्या.आ. 'विशारद'
पं० माधवप्रसादव्यासेन कृतायां भाषाटीकायां
(चतुर्थोऽ) षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

---

(५)-अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥३७॥

विदुर उवाच ।

सप्तदशेमान् राजेन्द्र ! मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।
वैचित्रवीर्य ! पुरुषानाकाशं मुष्टिभिघ्नतः ॥ १ ॥

विदुर जी धृतराष्ट्र से बोले कि—हे राजेन्द्र ! हे विचित्र वीर्य के पुत्र ! स्वायम्भुव मनु ने इन सत्रह पुरुषों को मुष्टि से आकाश को हनन करने वालों के समान मूर्ख बतलाया है ॥ १ ॥

दानवेन्द्रस्य च धनुरनाम्यं नमतोऽब्रवीत् ।
अथो मरीचिनः पादानग्राह्यान् गृह्णतस्तथा ॥ २ ॥

अन्तरं भेद, स्थापय युद्धान्निवर्त्तयस्व ॥ ७४ ॥

सप्तदशेति ॥ १ ॥ दानूनां मेघानां समूहो दानवं तस्मिन् । सुपां सुलुगिति सप्तम्या लुक् डादेशो वा । इन्द्रस्य धनुः वर्षासु दृश्यमानं अनाम्यं धूमज्योतिषोः

फिर वे कैसे मूर्ख हैं? जो कि नवाने के अयोग्य वर्षा काल में होने वाले इन्द्रधनुष को नवाते हैं और पकड़ने के अयोग्य सूर्य किरण को पकड़ते हैं अर्थात् शक्ति के बाहर काम को करने की चेष्टा करते हैं ॥ २ ॥

यश्चाशिष्यं शास्ति वै यश्च तुष्येद्यश्चातिवेलं भजते द्विषन्तम् ।
स्त्रियश्च यो रक्षति भद्रमश्नुते यश्चायाच्यं याचते कत्थते वा ॥३॥

जो अशिष्य अर्थात् शिक्षा के अयोग्य को शिक्षा देते हैं, थोड़े लाभ से प्रसन्न रहते हैं, असमय में अपने कार्य के लिये शत्रु की सेवा करते हैं, स्त्रियों की रक्षा करते हैं, स्त्रियों से तथा शत्रु से [1]कल्याण के भागी होते हैं, याचना के अयोग्य से याचना करते हैं और व्यर्थ बकवाद करते हैं ॥ ३ ॥

यश्चाभिजातः प्रकरोत्यकार्यं यश्चाबलो बलिना नित्यवैरी ।
अश्रद्दधानाय च यो ब्रवीति यश्चाकाम्यं कामयते नरेन्द्र ! ॥ ४ ॥

जो कुलीन होकर नहीं करने लायक कार्य को करता है, जो निर्बल बली के साथ नित्य वैर करता है, जो अश्रद्धालु से बात को कहता है, हे नरेन्द्र ! जो चाहना करने के अयोग्य वस्तु की चाहना करता है ॥ ४ ॥

सन्निपातरूपत्वात् नामयितुमयोग्यम् । नमतः नामयतः । मरीचिनः मरीचिमतः सूर्यचन्द्रादेः । व्रीह्यादित्वान्मत्वर्थीय इनिः । पादान् रश्मीन् । आकाशहननादिकमकार्यं कुर्वतोऽतिमूढानित्यर्थः ॥ २ ॥ अशिष्यं शासनानर्हं दुर्योधनादि यः शास्ति । तुष्येत् अल्पलाभेनेति शेषः । द्विषन्तं भजेत स्वकार्यार्थमिति शेषः । कार्यमेवाह—भद्रमश्नुते इति । शत्रुसेवया स्त्रीरक्षया च यो भद्रमश्नुते तौ द्वौ मूर्खौ इत्यर्थः । यः कत्थते किञ्चित् कृत्वा श्लाघते सः षष्ठो मूर्खः ॥ ३ ॥ अभिजातः कुलीनः ॥ ४ ॥

---

१ अर्थात् शत्रुसेवा से कल्याण चाहने वाले और स्त्रीसेवा से कल्याण चाहनेवाले ये दोनों मूर्ख हैं ।

वध्वाऽवहासं श्वशुरो मन्यते यो वध्वाऽवसन्नभयो मानकामः ।
परक्षेत्रे निर्वपति यश्च बीजं स्त्रियं च यः परिवदतेऽतिवेलम् ॥ ५ ॥

जो श्वशुर होकर पुत्रवधू के साथ परिहास करता है, आपत्ति के समय पुत्रवधू के पिता, भ्राता आदिकों से भय दूर करने पर फिर उन्हीं पुत्रवधू के पिता भ्राता से मान चाहता है, जो दूसरे क्षेत्र में बीज बोता है अर्थात् परस्त्री से सम्भोग करता है, और जो असमय में स्त्री से बात चीत करता है ॥ ५ ॥

यश्चापि लब्ध्वा न स्मरामीतिवादी दत्त्वा च यः कत्थति याच्यमानः ।
यश्चासतः सत्त्वमुपानयीत एतान्नयन्ति निरयं पाशहस्ताः ॥ ६ ॥

जो दूसरे से लेकर यह कहता है कि मुझे याद नहीं है, और जो तीर्थ में केवल वचन से दान करके घर पर याचक के माँगने पर अपनी प्रशंसा करता है अर्थात् विना दिये ही अपनी प्रशंसा करता है, और जो असत् अर्थात् दुष्ट में सत्त्व अर्थात् साधुता का समर्थन करते हैं। अथवा मिथ्या वस्तु में सत्यता सिद्ध करते हैं, इन सत्रहों को पाशधारी यम के दूत नरक को ले जाते हैं ॥ ६ ॥

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥७॥

श्वशुरः सन् यो वध्वा पुत्रभार्यया सह अवहासं परिहासं तत्पित्रादिभिरिव मन्यते स एकादशः। वध्वा स्नुषया भूतया अवसन्नभयो नष्टभयः वधूपित्रादिभिरापदि त्रातोऽपि तत्रैव मानं कामयते यः स द्वादशो मूर्खः। अन्ये तु वध्वा सह रतिं कुर्वन्नपि अभयो मानकामश्चेति व्याचख्युः तद्विगीतत्वादुपेक्ष्यं परक्षेत्रे इत्यनेन गृहीतं च ॥ ५ ॥ दत्त्वा तीर्थे वाचा दानं कृत्वा गृहे याचकेन याच्यमानः सन् कत्थते दानमकृत्वैव श्लाघते। असतो दुष्टस्य सत्त्वं साधुत्वं असतः मृषार्थस्य सत्त्वं सत्यत्वं वा उपानयीत समर्थयते स सप्तदशो मूर्खः ॥ ६ ॥ यस्मिन्निति-साधुषु

जो जिसके साथ जैसा बर्ताव करता है उसको भी उसके साथ वैसा ही बर्तना चाहिये, यह धर्म है। कपटाचारी मनुष्य के साथ कपट व्यवहार करना चाहिये और साधु-व्यवहार पुरुष के साथ साधु व्यवहार करना चाहिये॥ ७॥

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा मृत्युः प्राणान्धर्मचर्यामसूया।
कामो ह्रियं वृत्तमनार्यसेवा क्रोधः श्रियं सर्वमेवाभिमानः॥ ८॥

जरा (वृद्धावस्था) रूप को हरती है, आशा धैर्य को हरती है, मृत्यु प्राणों को हरता है, असूया (गुणों में दोषारोप) धर्मचर्या को हरती है, काम लज्जा को हरता है, दुर्जनसेवा आचार को हरती है, क्रोध लक्ष्मी को हरता है और अभिमान (अहङ्कार) सबका नाश कर देता है॥ ८॥

धृतराष्ट्र उवाच।

शतायुरुक्तः पुरुषः सर्ववेदेषु वै यदा।
नाप्नोत्यथ च तत्सर्वमायुः केनेह हेतुना॥ ९॥

यह सुन धृतराष्ट्र विदुर जी से बोले—हे विदुर जी! जब समस्त वेदों में पुरुष को शतायु (सौ वर्ष का) बतलाया है तो वह पुरुष इस लोक में उस समस्त आयु को किस कारण से नहीं प्राप्त होता है?॥९॥

विदुर उवाच।

अतिमानोऽतिवादश्च तथाऽत्यागो नराधिप!।
क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानि षट्॥ १०॥

पाण्डवेषु त्वयाऽपि साधुना भवितव्यमित्याशयः॥७॥ जरेति—अभिमानं त्यजेति भावः॥ ८॥ अभिमानः सर्वहरः इत्युक्ते अभिमानवतां मत्पुत्राणां यदि स्वल्पमेवायुरस्ति तर्हि त्यक्तेऽप्यभिमाने न जीविष्यन्ति, यदि बहु तर्हि सत्यपि तस्मिन्न मरिष्यन्तीत्याशयेनाह—शतायुरिति॥ ९॥ अत्यागः उत्कृष्टोऽपराधश्चौर्यादिर्गरदानादिर्वा। अत्याशय इति पाठे बहुभोजित्वम्। आत्मविधित्सेति पोषणार्थस्य

विदुर जी धृतराष्ट्र से बोले—हे नराधिप ! [1]अतिमान, [2]अतिवाद, [3]अत्याग, [4]क्रोध, आत्मविविधित्सा और मित्रद्रोह ये छ हैं ॥ १० ॥

एत एवासयस्तीक्ष्णाः कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम् ।

एतानि मानवान् घ्नन्ति न मृत्युर्भद्रमस्तु ते ॥ ११ ॥

ये ही छः तीखे तलवार हैं और ये देहधारियों के आयु का नाश करते हैं तथा मनुष्यों का वध करते हैं। इसलिये हे राजन् ! इन छओं से तुम्हारी मृत्यु न होवे, तुम्हारा कल्याण हो ॥ ११ ॥

विश्वस्तस्यैति यो दारान् यश्चापि गुरुतल्पगः ।

वृषलीपतिर्द्विजो यश्च पानपश्चैव भारत ! ॥ १२ ॥

हे भारत ! जो विश्वस्त पुरुष की स्त्री के साथ गमन करता है और जो गुरु की शय्या पर शयन करता है अथवा बैठता है तथा जो द्विज वृषलीपति अर्थात् शूद्रा का पति है और मद्यपान करता है ॥१२॥

आदेशकृद्वृत्तिहन्ता द्विजानां प्रेषकश्च यः ।

शरणागतहा चैव सर्वे ब्रह्महणः समाः ॥

एतैः समेत्य कर्तव्यं प्रायश्चित्तमिति श्रुतिः ॥ १३ ॥

जो ब्राह्मणों पर हुकूमत करता है और ब्राह्मणों की जीविका का नाश करता है तथा ब्राह्मणों का प्रेषक होता है अर्थात् तत्तत्कार्यों के लिये ब्राह्मणों को दौड़ाया करता है और जो शरणागत का वध करने

धाज्ञः सन्ति रूपम् । आत्मपोषणेच्छा शिश्नोदरपरायणतेत्यर्थः ॥ १० ॥ असयः खड्गाः । भद्रमस्तुते एतेषां षण्णां त्यागेन तव पुत्राः शतायुषो भवन्तु इत्यर्थः ॥ ११ ॥ वृषली शूद्रा । द्विजः त्रैवर्णिकः । पानपः मद्यपः ॥ १२ ॥ आदेशकृत् ग्रामणीः । प्रेषकः द्विजान् दास्ये नियोजयन् । समेत्य संसृज्य । यदि त्वत्पुत्रा अतिमानादीन्न त्यजन्ति तर्हि तेषां पाण्डववृत्तिहन्तृणां सङ्गस्त्वया न

---

१ अत्यन्त अभिमान करना । २ अत्यन्त निठुर होकर बोलना । ३ दान न देना । ४ आत्मपोषण की इच्छा अर्थात् शिश्नोदर परायणता का होना ।

वाला है, ये सब ब्रह्महत्यारों के समान हैं। इनके संसर्ग को करने वाला प्रायश्चित्त करे, यह वेद कहता है॥ १३॥

गृहीतवाक्यो नयविद्वदान्यः शेषान्नभोक्ता ह्यविहिंसकश्च।
नानर्थकृत्याकुलितः कृतज्ञः सत्यो मृदुः स्वर्गमुपैति विद्वान्॥१४॥

जो गृहीत वाक्य है, नीति का जानने वाला है, दानी है, बलि वैश्वदेव तथा अतिथि भोजन से शेष अन्न को भोजन करता है, किसी की हत्या नहीं करता है, अनर्थ कृत्य से आकुल नहीं होता है, उपकार को जानने वाला है, सत्यवक्ता है, कोमल स्वभाव है ऐसा विद्वान् स्वर्ग को प्राप्त करता है॥ १४॥

सुलभाः पुरुषा राजन्! सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥ १५॥

हे राजन्! संसार में प्रियवादी पुरुष हमेशा सुलभ हुआ करते हैं, परन्तु अप्रिय (सुनने में कटु) और पथ्य (हितकर) वचन को कहने वाला तथा सुनने वाला मनुष्य दुर्लभ हुआ करता है॥ १५॥

यो हि धर्मं समाश्रित्य हित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान्॥ १६॥

जो धर्म का आश्रय करके मालिक के प्रिय और अप्रिय का त्याग कर अर्थात् प्रिय अप्रिय का ख्याल न करके अप्रिय (सुनने में कटु) और पथ्य (परिणाम में हितकर) वचनों को कहता है उस पुरुष से राजा सहायवान् कहा जाता है॥ १६॥

त्यजेत्कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥ १७॥

कार्यः इति भावः॥ १३॥ गृहीतवाक्यः विद्यावान्। नयवित् नीतिज्ञः। वदान्यो दाता। गृहीतवाक्योऽनिरस्तगुरुवचनः॥ १४॥

कुल के कल्याण के अर्थ एक पुरुष का त्याग कर दे और ग्राम के कल्याणार्थ कुल का त्याग कर दे तथा देश के कल्याणार्थ ग्राम का त्याग कर दे और अपने कल्याणार्थ पृथिवी का त्याग कर दे ॥ १७ ॥

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ १८ ॥

आपत्ति के लिये धन की रक्षा करे अर्थात् आपत्ति को दूर करने के लिये धन का सञ्चय करे, और धनों से स्त्री की रक्षा करे, तथा स्त्री और धन से अपनी हमेशा रक्षा करे ॥ १८ ॥

द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं नृणाम् ।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥ १९ ॥

पूर्वकाल में भी यह द्यूत (जूआ) मनुष्यों में वैर (शत्रुता) को कराने वाला देखा गया है। इस लिये बुद्धिमान् मनुष्य हास्य के लिये भी इसका सेवन न करें ॥ १९ ॥

उक्तं मया द्यूतकालेऽपि राजन्नेदं युक्तं वचनं प्रातिपेय ।
तदौषधं पथ्यमिवातुरस्य न रोचते तव वैचित्रवीर्य ! ॥ २० ॥

हे राजन् ! मैंने आपसे द्यूत के समय भी कहा था कि यह काम अच्छा नहीं है, परन्तु आपको यह मेरा वचन अच्छा नहीं लगा। हे वैचित्रवीर्य ! आतुर को पथ्य औषध के समान मेरे वचन आपको नहीं रुचते हैं ॥ २० ॥

काकैरिमांश्चित्रबर्हान्मयूरान् पराजयेथाः पाण्डवान्धार्तराष्ट्रैः ।
हित्वा सिंहान् क्रोष्टुकान्गूहमानः प्राप्ते काले शोचिता त्वं नरेन्द्र! ॥२१॥

हे नरेन्द्र ! चित्र विचित्र मोरपङ्ख वाले मयूरों के समान इन पाण्डवों का काक के समान इन दुर्योधनादिकों से पराजय कराना चाहते हो और सिंहों का अर्थात् सिंहों के समान इन पाण्डवों का

इदं द्यूतं न युक्तमिति वचनं मया उक्तमिति सम्बन्धः ॥ २० ॥

त्याग कर सियार के समान इन दुर्योधनादिकों की रक्षा करते हो। इस लिये हे नरेन्द्र! समय आनेपर तुम शोक करोगे॥ २१॥

यस्तात! न क्रुध्यति सर्वकालं भृत्यस्य भक्तस्य हिते रतस्य।
तस्मिन्भृत्या भर्तरि विश्वसन्ति न चैनमापत्सु परित्यजन्ति॥२२॥

हे तात! जो मनुष्य अपने हित में तत्पर और सेवा करने वाले भृत्य पर हमेशा क्रोध नहीं करता है तो भृत्य लोग उस मालिक में विश्वास करते हैं और आपत्तिकाल में भी मालिक का त्याग नहीं करते हैं॥ २२॥

न भृत्यानां वृत्तिसंरोधनेन राज्यं धनं सञ्जिघृक्षेदपूर्वम्।
त्यजन्ति ह्येनं वञ्चिता वै विरुद्धाः स्निग्धा ह्यमात्याः परिहीनभोगाः २३

जो भृत्यों की जीविका का अवरोध करके अपूर्व राज्य धन की वृद्धि के लिये संग्रह करना चाहता है तो वृत्ति से वञ्चित प्रिय भी अमात्यवर्ग सुखभोग से हीन होने के कारण राजा से विरुद्ध हो जाते हैं और उस राजा का त्याग कर देते हैं॥ २३॥

कृत्यानि पूर्वं परिसंख्याय सर्वाण्यायव्यये चानुरूपां च वृत्तिम्।
संगृह्णीयादनुरूपान् सहायान् सहायसाध्यानि हि दुष्कराणि॥२४॥

प्रथम समस्त कार्यों का साध्यासाध्य समझ कर संग्रह करे और आय व्यय तथा अनुकूल जीविका का संग्रह कर अनुकूल सहायकों का संग्रह करे। क्योंकि दुष्कर कार्य सहायकों से ही साध्य होते हैं॥२४॥

अभिप्रायं यो विदित्वा तु भर्तुः सर्वाणि कार्याणि करोत्यतन्द्री।
वक्ता हितानामनुरक्त आर्यः शक्तिज्ञ आत्मेव हि सोऽनुकम्प्यः॥२५॥

भक्तस्य सेवां कुर्वतः॥२२॥ अपूर्वं परकीयम्। स्निग्धा हि स्नेहवन्तोऽपि॥२३॥ कृत्यानि परिसंख्याय साध्यासाध्यनिश्चयं कृत्वा तथा वृत्तिं भृत्यजीविकां आयव्ययानुरूपां कृत्वेत्यर्थः। दुष्कराणि परराष्ट्रग्रहणादीनि॥ २४॥ अनुकम्प्यो मादृशो वचनस्वीकारेणानुग्राह्यः॥ २५॥

जो मालिक के अभिप्राय को समझकर और आलस्य रहित होकर समस्त कार्यों को करता है, और हितवचनों को कहता है, तथा स्वामी में अनुरक्त रहता है, और श्रेष्ठ है, तथा अपनी शक्ति को जानने वाला है ऐसा सेवक मालिक से आत्मा के समान दया पाने योग्य है ॥२५॥

वाक्यं तु यो नाद्रियतेऽनुशिष्टः प्रत्याह यश्चापि नियुज्यमानः ।
प्रज्ञाभिमानी प्रतिकूलवादी त्याज्यः स तादृक् त्वरयैव भृत्यः ॥२६॥

जो मालिक द्वारा आज्ञा मिलने पर मालिक के वचन का आदर नहीं करता है, और कार्य में नियुक्त किये जाने पर निषेध या मालिक से सवाल-जवाब करता है, तथा अपनी बुद्धि का अभिमान करता है, और मालिक के प्रतिकूल वचनों को कहता है ऐसा भृत्य शीघ्र ही त्याग के योग्य है ॥ २६ ॥

अस्तब्धमक्लीवमदीर्घसूत्रं सानुक्रोशं श्लक्ष्णमहार्यमन्यैः ।
अरोगजातीयमुदारवाक्यं दूतं वदन्त्यष्टगुणोपपन्नम् ॥ २७ ॥

पण्डित लोग आठ गुणों से युक्त जो मनुष्य है उसको दूत कहते हैं। अस्तब्ध अर्थात् नम्र होना, अक्लीब अर्थात् समर्थ होना, अदीर्घसूत्र अर्थात् शीघ्र कार्य को करना, सानुक्रोश अर्थात् दयायुक्त होना, श्लक्ष्ण अर्थात् कोमल स्वभाव होना, दूसरों से अभेद्य होना, रोगग्रस्त न होना, और उदार वचन को कहना ॥ २७ ॥

न विश्वासाज्जातु परस्य गेहे गच्छेन्नरश्चेतयानो विकाले ।
न चत्वरे निशि तिष्ठेन्निगूढो न राजकाम्यां योषितं प्रार्थयीत ॥२८॥

प्रत्याह प्रत्याख्यानं करोति। प्रतिकूलं आज्ञाविरुद्धं वदतीति प्रतिकूलवादी ॥२६॥ अस्तब्धं दर्पशून्यम्। अक्लीबं सामर्थ्यवन्तम्। अदीर्घसूत्रं क्षिप्रकारिणम्। सानुक्रोशं सदयम्। श्लक्ष्णं मञ्जुलम्। अहार्यं अभेद्यम्। अरोगजातीयं रोगलेशशून्यम्। उदारं युक्तियुक्तं महार्थं च वाक्यं यस्य तम्। दूतं प्रेष्यम् ॥ २७ ॥ विकाले सायङ्काले। परस्य अविश्वस्तस्य गेहे न गच्छेत्। प्रार्थयीत भोक्तुमिति शेषः ॥ २८ ॥

मनुष्य विश्वास को करके 'असमय में दूसरे के गृह में कभी न जावे, रात्रि के समय छिपकर आंगन में न खड़ा रहे, और राजाओं के अभिलषित स्त्री को भोग के लिये पाने की इच्छा से प्रार्थना न करे ॥२८॥

न निह्नवं मन्त्रगतस्य गच्छेत् संसृष्टमन्त्रस्य कुसङ्गतस्य ।
न च ब्रूयान्नाश्वसिमि त्वयीतो सकारणं व्यपदेशं तु कुर्यात् ॥२९॥

अनेकों के साथ सलाह करके आये हुए दुष्ट सङ्गति वाले राजा को सलाह के समय 'मैं नहीं जानता' ऐसा न कहे और मैं आपका विश्वास नहीं करता, ऐसा भी न कहे। किन्तु कारण के साथ बहाना कर देवे॥२९॥

घृणी राजा पुंश्चली राजभृत्यः पुत्रो भ्राता विधवा बालपुत्रा ।
सेनाजीवी चाद्धृतभूतिरेव व्यवहारेषु वर्जनीयाः स्युरेते ॥३०॥

[1]घृणी अर्थात् लज्जावान्, राजा, व्यभिचारिणी, राजभृत्य, पुत्र, भ्राता, विधवा, बालपुत्रा, सेनाजीवी, और [2]उद्धृतभूति, ये [3]व्यवहार में त्याग करने योग्य है ॥३०॥

संसृष्टः बहुकर्तृकत्वेन मिश्रो मन्त्रो यस्य तत्तादृशस्य कर्णादिसहायवतो राज्ञो निह्नवं मन्त्रस्य अपहारं न गच्छेत्, मादृशः तं मन्त्रं न दूषयेत्। तैः सर्वैः सह विरोधापत्तेरिति भावः। त्वयि बहूनां शास्ये अहं नाश्वसिमीति न ब्रूयात्, किन्तु मम किञ्चित्कार्यमस्तीति तथा व्यपदेशं व्याजं कृत्वा तादृशात् मन्त्रादपसरेदेवेत्यर्थः ॥२९॥ घृणी लज्जावान्, स हि यथोक्तं दण्डं अधमर्णेषु पातयितुं न शक्तः क्रूरोऽयमिति लोकापवादभयात्। उद्धृतभूतिः दूरीकृताधिकारः, एते व्यवहारे धनदानादौ वर्जनीयाःद्रव्यनाशभयात्; एतेभ्यो न ग्राह्यं च। अधमर्णो घृणी लज्जावांश्चेदतिनिर्बन्धेन याच्यमानः प्राणानेव जह्यात् एवमन्यत्राप्यूह्यम्। त्वमपि

---

१ ऋणगृहीता यदि लज्जावान् है तो ऋण चुकाने के लिये अधिक दबाव डालने से वह प्राणों को ही दे देता है अर्थात् आत्महत्या कर लेता है। २ अधिकार से च्युत। ३ धन आदि का देना और लेना इनके साथ नहीं करना। हे धृतराष्ट्र! आप भी दुर्योधन को नाश के भय से राज्य न देवें।

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति प्रज्ञा च कौल्यं च श्रुतं दमश्च ।
पराक्रमश्च बहुभाषिता च दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥३१॥

प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि, कौल्य अर्थात् कुलीनता, श्रुत अर्थात् शास्त्राभ्यास, दम अर्थात इन्द्रियदमन, पराक्रम अर्थात् साहस, बहुभाषिता, यथाशक्ति दान, और कृतज्ञता उपकार का जानना—ये आठ गुण पुरुष को उज्ज्वल बना देते हैं ॥३१॥

एतान्गुणांस्तात ! महानुभावानेको गुणः संश्रयते प्रसह्य ।
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं सर्वान्गुणानेष गुणो बिभर्ति ॥३२॥

हे तात ! इन अधिक प्रभावशाली गुणों में से एक गुण (सत्कार करना) सबमें श्रेष्ठ है । राजा अर्थात् मालिक होकर जब मनुष्य का सत्कार करता है तब यह एक ही गुण समस्त गुणों को धारण करता है॥ ३२ ॥

गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते बलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः ।
स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः ॥३३॥

स्नानशील अर्थात् नित्यस्नायी मनुष्य को बल, रूप, स्वर की शुद्धता, वर्ण की शुद्धता, स्पर्श, गन्ध, विशुद्धता, कान्ति, सुकुमारता और श्रेष्ठ स्त्रियां ये दश गुण भजते हैं अर्थात् चाहते हैं ॥३३॥

गुणाश्च षण्मितभुक्तं भजन्ते आरोग्यमायुश्च बलं सुखं च ।
अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं न चैनमाद्यून इति क्षिपन्ति ॥३४॥

परिमित भोजन करने वाले मनुष्य को निम्न लिखित छः गुण चाहते हैं। १ आरोग्य, २ आयु, ३ बल, ४ सुख, ५ आरोग्यादि गुण-

---

नाशभयात् पुत्राय राज्यं मा देहीति भावः ॥३०॥ स्वरो ध्वनिः तस्य प्रशुद्धिः—मञ्जुलता। वर्णाः कादयः तेषां प्रशुद्धिः यथास्थानकरणं विस्पष्टमुच्चारणम् । स्पर्शः मृदुता । सौकुमार्यं लावण्यम् ॥३३॥ मितभुक्तं मितभोजिनम् । आद्यूनो बहुभोजी, इति

युक्त सन्तान, और ६ अबहुभोजिता, अर्थात् यह बहुभोजी है ऐसा लोग आक्षेप नहीं करते हैं ॥३४॥

अकर्मशीलं च महाशनं च लोकद्विष्टं बहुमायं नृशंसम् ।
अदेशकालज्ञमनिष्टवेषमेतान् गृहे न प्रतिवासयेत ॥३५॥

जो कर्मशील नहीं है, बहुभोजी है, सबके साथ द्वेष करता है, बहुत मायावी है, घातुक है, देशकाल को नहीं जानता है, और अनिष्ट वेष को बनाये रहता है, ऐसे मनुष्य को अपने गृह में वास न दे अर्थात् इनका दूर रहना ही श्रेय है ॥३५॥

कदर्यमाक्रोशकमश्रुतं च वनौकसं धूर्तममान्यमानिनम् ।
निष्ठूरिणं कृतवैरं कृतघ्नमेतान्भृशार्त्तोऽपि न जातु याचेत् ॥३६॥

कदर्य अर्थात् जो दानी न हो, आक्रोशक अर्थात् गाली देनेवाला, अश्रुत अर्थात् मूर्ख, वनौकस (भील) धूर्त (कितव), अमान्य का मान करने वाला, निष्ठुर (निर्दय), कृतवैर (हिंस्र) अर्थात् स्वयं दूसरे से वैर करनेवाला हो, और कृतघ्न अर्थात् दूसरे के द्वारा भये उपकार को न मानने वाला, इन नौ मनुष्यों से अत्यन्त कष्टावस्था में भी याचना न करे ॥ ३६ ॥

संक्लिष्टकर्माणमतिप्रमादं नित्यानृतं चादृढभक्तिकं च ।
विसृष्टरागं पटुमानिनं चाप्येतान्न सेवेत नराधमान् षट् ॥३७॥

क्षिपन्ति निन्दन्ति ॥३४॥ अनिष्टवेषं क्षपणकादिवेषधरम् ॥३५॥ कदर्यं अदातारम्। आक्रोशकं गालीप्रदातारम्। अश्रुतं मूर्खम्। वनौकसं भिल्लादिम्। धूर्तं कितवम्। निष्ठूरिणं निर्दयम्। हिंस्रं कृतवैरमन्येन स्वेन वा ॥ ३६ ॥ संक्लिष्टकर्माणं आततायिनम्। स च षड्विधः—अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ॥ क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते आततायिनः ॥ इति प्रसिद्धः। अतिप्रमादं सदा भ्रमम्।

संक्लिष्टकर्मा अर्थात् [1]आततायी, अतिप्रमाद अर्थात हमेशा व्यग्र रहने वाला, नित्य झूठ बोलने वाला, अदृढ़ रूप से भक्ति करने वाला, विसृष्टराग अर्थात् स्नेह रहित और पटुमानी अर्थात अपने में कार्य कुशलता का अभिमान रखने वाला, इन छः नराधर्मों की भी सेवावृत्ति न करे ॥ ३७ ॥

सहायबन्धना ह्यर्थाः सहायाश्चार्थबन्धनाः ।
अन्योन्यबन्धनावेतौ विनान्योन्यं न सिध्यतः ॥ ३८ ॥

सहाय-बन्धन से धन होते हैं और धन-बन्धन से सहाय होते हैं। अर्थात् सहायक से धन प्राप्त होता है और धन से सहायक प्राप्त होते हैं। सहाय और धन परस्पर बन्धन वाले कहे गये हैं। ये दोनों बिना परस्पर बन्धन के सिद्ध नहीं होते हैं ॥ ३८ ॥

उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा वृत्तिं च तेभ्योऽनुविधाय काञ्चित् ।
स्थाने कुमारीः प्रतिपाद्य सर्वा अरण्यसंस्थोऽथ मुनिर्बुभूषेत् ॥३९॥

पुत्रों को पैदा कर और उनको ऋण से मुक्त कर तथा उन पुत्रों के लिये कोई जीविका का प्रबन्ध कर और कन्याओं को उनके पतियों के अधीन कर वन में रहकर [2]मुनि होने की इच्छा करे ॥ ३९ ॥

हितं यत्सर्वभूतानामात्मनश्च सुखावहम् ।
तत्कुर्यादीश्वरे ह्येतन्मूलं सर्वार्थसिद्धये ॥ ४० ॥

विसृष्टरागं त्यक्तस्नेहम्। पटुमानिनं कुशलंमन्यम् ॥ ३७ ॥ एवं निर्गुणानां स्वपुत्राणां पक्षपातेन सगुणान् पाण्डुपुत्रान् मा त्यजेत्युक्तम्। सम्प्रति सर्वेषामैकमत्येनाभ्युदयं प्रसाध्य स्वहितमेव कुर्वित्याह सहायेत्यादिना ॥ ३८ ॥ ईश्वरे कालान्तरीयफलप्रतिभूभूते एतदेव स्वपरहिताचरणं मूलं हेतुभूतं एतादिना ईश्वरो-

---

१ आग लगाने वाला, विष देने वाला, हाथ में शस्त्र धारण करने वाला, धन हरण करने वाला, क्षेत्र हरण करने वाला, दूसरे की स्त्री हरण करने वाला ये छः आततायी कहे गये हैं। २ मनन शील अर्थात् आत्मचिन्तन में तत्पर।

जो कर्म समस्त प्राणियों का हितकर और अपने को सुख देने वाला हो उस कर्म को करे क्यों कि ऐसा कर्म समस्त अर्थ-सिद्धियों का मूल (जड़) है ॥ ४० ॥

वृद्धिः प्रभावस्तेजश्च सत्त्वमुत्थानमेव च ।
व्यवसायश्च यस्य स्यात्तस्यावृत्तिभयं कुतः ॥ ४१ ॥

जिसको बुद्धि, प्रभाव, तेज, सत्त्व, उत्थान और व्यवसाय होते हैं उसको जीविका का भय कैसा ? अर्थात् उसको जीविका का भय नहीं होता है ॥ ४१ ॥

पश्य दोषान्पाण्डवैर्विग्रहे त्वं यत्र व्यथेयुरपि देवाः सशक्राः ।
पुत्रैर्वैरं नित्यमुद्विग्नवासो यशःप्रणाशो द्विषतश्च हर्षः ॥ ४२ ॥

हे राजन् ! पाण्डवों के साथ वैर होने में आप दोष देखे। जिन पाण्डवों के साथ वैर होने में इन्द्र सहित समस्त देवता भी व्यथित होते हैं। एक तो पुत्रों के साथ वैर और दूसरे हमेशा भयभीत रहना तथा तीसरे यश का नाश और चौथे शत्रुओं को प्रसन्न करना ॥ ४२ ॥

भीष्मस्य कोपस्तत्र चैवेन्द्रकल्प! द्रोणस्य राज्ञश्च युधिष्ठिरस्य ।
उत्सादयेल्लोकमिमं प्रवृद्धः श्वेतो ग्रहस्तिर्यगिवापतन् खे ॥ ४३ ॥

हे इन्द्रकल्प ! अर्थात् हे इन्द्र सदृश ! भीष्म का तथा आपका और द्रोणाचार्य का तथा राजा युधिष्ठिर का कोप इस समस्त लोक का नाश कर सकता है। जैसे आकाश में तिरछा होकर उदित हुआ श्वेतग्रह अर्थात् धूमकेतु समस्त लोक का नाश कर देता है ॥ ४३ ॥

ऽपि फलं दातुं न समर्थः इत्यर्थः ॥ ४० ॥ ननु परहितकरणे स्वहितं कथं स्यादित्यत आह वृद्धिरिति—वृद्धिः सहायमेलनेन धनादीनां प्रचयः। बुद्धिरिति पाठे मित्रसंग्रहधीः। प्रभावः शत्रूणां पराजयः। तेजः तद्धेतुभूतं शौर्यम्। सत्त्वं धर्मज्ञानैश्वर्यरूपम्। उत्थानं उद्यमः। व्यवसायः निश्चयः। अवृत्तिर्जीविकाया अभावः ॥ ४१ ॥ श्वेतो ग्रहः धूमकेतुः ॥ ४३ ॥

तव पुत्रशतं चैव कर्णः पञ्च च पाण्डवाः ।
पृथिवीमनुशासेयुरखिलां सागराम्बराम् ॥ ४४ ॥

सौ १०० आपके पुत्र तथा कर्ण और पाण्डववर्ग ये समुद्ररूपी वस्त्रवाली समस्त पृथिवी का शासन कर सकते हैं ॥ ४४ ॥

धार्तराष्ट्रा वनं राजन् ! व्याघ्राः पाण्डुसुता मताः ।
मा वनं छिन्धि सव्याघ्रं मा व्याघ्रा नीनशन्वनात् ॥४५॥

हे राजन् ! आपके दुर्योधनादिक पुत्र वन स्थानापन्न हैं और पाण्डु के पुत्र व्याघ्र स्थानापन्न हैं। इस लिये व्याघ्र सहित वन का नाश न करें और वन से व्याघ्र को पृथक् भी न करें ॥ ४५ ॥

न स्याद्वनमृते व्याघ्रान् व्याघ्रा न स्युर्ऋते वनम् ।
वनं हि रक्ष्यते व्याघ्रैर्व्याघ्रान्रक्षति काननम् ॥ ४६ ॥

व्याघ्रों के विना वन नहीं होते और वन के विना व्याघ्र नहीं होते हैं। क्यों कि व्याघ्रों से वन की रक्षा होती है और वन से व्याघ्रों की रक्षा होती है ॥ ४६ ॥

न तथेच्छन्ति कल्याणान्परेषां वेदितुं गुणान् ।
यथैषां ज्ञातुमिच्छन्ति नैर्गुण्यं पापचेतसः ॥ ४७ ॥

जैसी पापात्मा जन दूसरों की निर्गुणता जानने की इच्छा करते हैं वैसी दूसरों के कल्याण तथा गुण को जानने की इच्छा नहीं करते हैं ॥४७॥

अर्थसिद्धिं परामिच्छन् धर्ममेवादितश्चरेत् ।
न हि धर्मादपैत्यर्थः स्वर्गलोकादिवामृतम् ॥ ४८ ॥

श्रेष्ठ धन सिद्धि को चाहने वाला पुरुष शुरू से धर्म का सेवन करे, क्योंकि धन धर्म से पृथक् नहीं रहता है-जैसे अमृत स्वर्ग लोक से पृथक् नहीं रहता ॥ ४८ ॥

मा नीनशन् नाशं न प्राप्नुयुः, 'न माङ्योगे' इत्यडागमप्रतिषेधः ॥ ४५ ॥

यस्यात्मा विरतः पापात्कल्याणे च निवेशितः।
तेन सर्वमिदं बुद्धं प्रकृतिर्विकृतिश्च या॥ ४९॥

जिसकी आत्मा (मन) पाप (सङ्कल्प कल्पना) से विरत है और कल्याण (ब्रह्म) में लीन है उसने यह सब जान लिया है जो कि प्रकृति (त्रिगुणात्मिका माया) तथा विकृति (महदादि) हैं॥४९॥

यो धर्ममर्थं कामं च यथाकालं निषेवते।
धर्मार्थकामसंयोगं सोऽमुत्रेह च विन्दति॥ ५०॥

जो यथासमय धर्म अर्थ और काम का सेवन करते हैं वे धर्म अर्थ और काम के संयोग को परलोक में तथा इस लोक में भी प्राप्त करते हैं॥ ५०॥

सन्नियच्छति यो वेगमुत्थितं क्रोधहर्षयोः।
स श्रियो भाजनं राजन्! यश्चापत्सु न मुह्यति॥ ५१॥

जो क्रोध और हर्ष के उठे हुये वेग को रोकता है और जो आपत्ति में मोह को प्राप्त नहीं होता है, हे राजन्! वह लक्ष्मी का पात्र होता है॥ ५१॥

बलं पञ्चविधं नित्यं पुरुषाणां निबोध मे।
यत्तु बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते॥ ५२॥

पुरुषों को हमेशा पांच प्रकार के बल कहे गये हैं मैं उनको कहता हूँ आप उनको सुनिये। जो बाहुबल नामक बल है वह सबों में छोटा बल है॥ ५२॥

परेषां पाण्डवानाम्। पापचेतसो दुर्योधनाद्याः॥ ४७॥ आत्मा चित्तम्। पापात् इदं मे स्यादिदं मे स्यादित्येवंरूपात् सङ्कल्पात्। कल्याणे भूमानन्दे ब्रह्मणि। प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका माया। विकृतिर्महदादिः। आत्मज्ञानात् सर्वज्ञानप्रसिद्धेः॥ ४९॥ मोक्षानधिकारिणं प्रत्याह—य इति॥ ५०॥

अमात्यलाभो भद्रं ते द्वितीयं बलमुच्यते ।
तृतीयं धनलाभं तु बलमाहुर्मनीषिणः ॥ ५३ ॥

विद्वान् लोगों ने मन्त्री-लाभ को कल्याणकारी दूसरा बल बतलाया है और धन-लाभ को तीसरा बल कहा है ॥ ५३ ॥

यत्त्वस्य सहजं राजन् ! पितृपैतामहं बलम् ।
अभिजातबलं नाम तच्चतुर्थं बलं स्मृतम् ॥ ५४ ॥

हे राजन् ! जो पितृपितामह सम्बन्धी स्वाभाविक बल है वह अभिजात (कुल) बल नामक चतुर्थ बल कहा गया है ॥ ५४ ॥

येन त्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत ! ।
यद्बलानां बलं श्रेष्ठं तत्प्रज्ञाबलमुच्यते ॥ ५५ ॥

हे भारत ! जिस बल ने इन समस्त बलों को एकत्रित किया है आर जो बलों में श्रेष्ठ बल है वह बुद्धिबल है ॥ ५५ ॥

महते योऽपकाराय नरस्य प्रभवेन्नरः ।
तेन वैरं समासज्य दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ॥ ५६ ॥

जो मनुष्य मनुष्य के महान् अपकार करने के लिये समर्थ होता है तो उससे वैर कर मैं उससे दूर हूँ वह मेरा क्या कर सकता है ? ऐसा विश्वास न करे ॥ ५६ ॥

स्त्रीषु राजसु सर्पेषु स्वाध्यायप्रभुशत्रुषु ।
भोगेष्वायुषि विश्वासं कः प्राज्ञः कर्तुमर्हति ॥ ५७ ॥

स्त्री, राजा, सर्प, स्वाध्याय (वेदाभ्यास), प्रभु (स्वामी), शत्रु, भोग और आयु में विश्वास करने को कौन विद्वान् समर्थ होता है ? अर्थात् ये सब समय पर ठग सकते हैं ॥५७॥

सहजं-जन्मनैव सहोत्पन्नम्, अभिजातबलं कुलबलम् ॥ ५४ ॥

प्रज्ञाशरेणाभिहतस्य जन्तोश्चिकित्सकाः सन्ति न चौषधानि ।
न होममन्त्रा न च मङ्गलानि नाथर्वणा नाप्यगदाः सुसिद्धाः ॥५८॥

बुद्धिरूप बाण से मारे हुये जीव की रक्षा में चिकित्सक (वैद्य), औषध, होम-मन्त्र, मङ्गल कार्य, अथर्वण वेद में कहे हुये मन्त्र-तन्त्र यन्त्रादि, धातु काष्ठादिमय सिद्ध औषध समूह समर्थ नहीं होते हैं ॥५८॥

सर्पश्चाग्निश्च सिंहश्च कुलपुत्रश्च भारत ! ।
नावज्ञेया मनुष्येण सर्वे ह्येतेऽतितेजसः ॥ ५९ ॥

हे भारत ! सर्प, अग्नि, सिंह, कुलपुत्र इनका मनुष्य अपमान न करे, क्योंकि ये अति तेजस्वी होते हैं ॥ ५९ ॥

अग्निस्तेजो महल्लोके गूढस्तिष्ठति दारुषु ।
न चोपयुङ्क्ते तद्दारु यावन्नोद्दीप्यते परैः ॥ ६० ॥

संसार में महान् अग्नि का तेज काष्ठों में गुप्तरूप से रहता है और जब तक दूसरे से प्रदीप्त नहीं किया जाता तब तक उस काष्ठ को नहीं जलाता है ॥ ६० ॥

स एव खलु दारुभ्यो यदा निर्मथ्य दीप्यते ।
तद्दारु च वनं चान्यान्निर्दहत्याशु तेजसा ॥ ६१ ॥

वही अग्नितेज जब काष्ठों में मन्थन द्वारा प्रदीप्त होता है तो उस काष्ठ को और वन को तथा अन्य वस्तुओं को अपने तेज से शीघ्र जला देता है ॥ ६१ ॥

एवमेव कुले जाताः पावकोपमतेजसः ।
क्षमावन्तो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ॥ ६२ ॥

औषधाद्याश्चिकित्सकाः न सन्ति, तैरचिकित्स्यः इत्यर्थः । आथर्वणा वेदमन्त्रा अपि किं पुनर्लौकिकाः। सुसिद्धाः सम्यक् साधिताः, अगदाः पारदादयः॥ ५८ ॥ कुलपुत्रो ज्ञातिः ॥ ५९ ॥ कुले जाताः पाण्डवाः ॥ ६२ ॥

इसी तरह श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न अग्नि के समान तेजस्वी क्षमाशील और निराकार (चेष्टा रहित), होकर कुलीन पुरुष काष्ठ में अग्नि के समान शयन करते रहते हैं ॥ ६२ ॥

लताधर्मा त्वं सपुत्रः शालाः पाण्डुसुता मताः ।
न लता वर्धते जातु महाद्रुममनाश्रिता ॥ ६३ ॥

हे धृतराष्ट्र ! पुत्रों के सहित आप लतास्थानापन्न हैं और पाण्डुपुत्र शालवृक्ष स्थानापन्न हैं और बिना महान् वृक्ष के आश्रय लता कभी वृद्धि को प्राप्त नहीं होती है ॥ ६३ ॥

वनं राजंस्तव पुत्रोऽम्बिकेय ! सिंहान् वने पाण्डवांस्तात ! विद्धि ।
सिंहैर्विहीनं हि वनं विनश्येत् सिंहा विनश्येयुर्ऋते वनेन ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये
(पञ्चमोऽ) सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥३७॥

हे राजन् ! हे अम्बिकेय ! आपके पुत्रवन हैं और हे तात ! उस वन में 'पाण्डवों को सिंह जानिये । सिंहों के न रहने पर वन नष्ट हो जाता है और वन के विना सिंह नष्ट हो जाते हैं ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये व्या. आ.
'विद्यारत्न' पं० माधवप्रसादव्यासेन कृतायां भाषाटीकायां
सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥३७॥ [५]

शालाः महाशालाः महावृक्षाः । पाण्डवान् आश्रित्य सपुत्रो वर्द्धस्वेत्यर्थः ॥ ६३ ॥ त्वत्पुत्रान् निहत्य पाण्डवा अपि स्नेहान्नश्येयुरेवेति भावः ॥ ६४ ॥

(६)—अथ अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥३८॥

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥ १ ॥

विदुर जी धृतराष्ट्र से बोले—हे राजन्! वृद्ध के आने पर युवा पुरुष के प्राण ऊपर को निकलने लगते हैं, परन्तु जब उस वृद्ध को देखकर प्रत्युत्थान और प्रणाम करता है तब फिर प्राण यथास्थान भीतर को चले जाते हैं ॥ १ ॥

पीठं दत्त्वा साधवेऽभ्यागताय आनीयापः परिनिर्णिज्य पादौ ।
सुखं पृष्ट्वा प्रतिवेद्यात्मसंस्थां ततो दद्यादन्नमवेक्ष्य धीरः ॥ २ ॥

धीर पुरुष अपने घर पर आये हुये अभ्यागत साधु पुरुष के लिये पीठ (आसन) देकर पैरों को जल से धोकर कुशल पूँछ कर अपनी अवस्था कहकर फिर उसके लिये शुद्ध अन्न को देवे ॥२॥

यस्योदकं मधुपर्कं च गां च न मन्त्रवित् प्रतिगृह्णाति गेहे ।
लोभाद्भयादथ कार्पण्यतो वा तस्यानर्थं जीवितमाहुरार्याः ॥३॥

जिसके गृह पर मन्त्रवेत्ता अतिथि होकर जल मधुपर्क गौ आदि लोभ से, भय से, या कृपणता से ग्रहण नहीं करते हैं तो उसके जीवन को आर्य लोग अनर्थ दायक कहते हैं ॥ ३ ॥

चिकित्सकः शल्यकर्ताऽवकीर्णी स्तेनः क्रूरो मद्यपो भ्रूणहा च ।
सेनाजीवी श्रुतिविक्रायकश्च भृशं प्रियोऽप्यतिथिर्नोदकार्हः ॥४॥

ऊर्ध्वमिति, आयति आगच्छति सति ॥१॥ निर्णिज्य प्रक्षाल्य । आत्मसंस्थां स्वस्थितिम्। प्रतिवेद्य निवेद्य॥२॥ यस्य कदर्यस्य भयात् राज्यादिषु धनिकत्वप्रथाभयात्। अदीयमानत्वादेव न प्रतिगृह्णाति तस्य जीवितं अनर्थं व्यर्थम् ॥ ३ ॥ शल्यकर्ता अस्त्रनिर्माता। अवकीर्णी नष्टब्रह्मचर्यः। नोदकार्हः उदकमात्रानर्होऽपि

चिकित्सक (वैद्य), बाण बनाने वाला, अवकीर्णी (नष्ट ब्रह्मचर्य), स्तेन (चोर), क्रूर, मद्यपी, भ्रूणहत्यारा, सेना।से जीविका करनेवाला और वेद बेचने वाला ये जल के अयोग्य भी अतिथि अत्यन्त प्रिय हैं अर्थात् दामाद के समान पूजनीय हैं ॥ ४ ॥

अविक्रयं लवणं पक्वमन्नं दधि क्षीरं मधु तैलं घृतं च ।
तिला मांसं फलमूलानि शाकं रक्तं वासः सर्वगन्धा गुडाश्च ॥५॥

नमक, सिद्ध अन्न, दही, दूध, मधु (सहद) तेल, घी, तिल, मांस, फल, शाक, लाल वस्त्र, समस्त सुगन्ध पदार्थ और गुड़ ये सब बेचने के योग्य नहीं हैं अर्थात् इनको नहीं बेचना चाहिये ॥५॥

अरोषणो यः समलोष्टाश्मकाञ्चनः प्रहीणशोको गतसन्धिविग्रहः ।
निन्दाप्रशंसोपरतः प्रियाप्रिये त्यजन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः ॥६॥

जो [1]क्रोध रहित है और लोष्ट्र (पत्थर सुवर्ण को समान समझता है तथा शोक हीन और स्नेह वैर से रहित तथा निन्दा प्रशंसा से हीन है और उदासीन के तरह प्रिय अप्रिय का त्याग कर रहता है वह संन्यासी है ॥ ६ ॥

नीवरमूलेङ्गुदशाकवृत्तिः सुसंयतात्माग्निकार्येषु चोद्यः ।
वने वसन्नतिथिष्वप्रमत्तो धुरन्धरः पुण्यकृदेष तापसः ॥७॥

जो नीवार (तिन्नी का चावल), मूल (कन्द), इङ्गुदी, शाक से

अतिथिः भृश प्रियः प्रियवज्जामात्रादिवदर्चनीय एवेत्यर्थः ॥ ४ ॥ श्रुतिविक्रायक-प्रसङ्गादन्यदप्यविक्रेयं यो विक्रीणाति सोऽपि मान्य एवेति विवक्षया अविक्रेयाण्याह—अविक्रेयमिति ॥५॥ दोषवानप्यतिथिः पूज्यः किमुत गुणवानिति वक्तुं तद्गुणानाह—अरोषण इति । गतसन्धिविग्रहः स्नेहवैररहितः । उदासीनवत् रागद्वेषादिराहित्यात् ॥६॥ चोद्यः विधेयः सावधान इत्यर्थः । तापसो दरिद्रोऽ-

---

१ दोषयुक्त भी अतिथि पूजनीय है। यदि गुणवान् है तो कहना ही क्या है।

जीवन निर्वाह करता है और मन को स्वाधीन रखता है तथा अग्नि-कार्य में तत्पर रहता है और वन में वास करता हुआ अतिथियों की [1]पूजा में सावधान रहता है वह पुण्यकार्य का करने वाला धुरन्धर तपस्वी है ॥ ७ ॥

अपकृत्य बुद्धिमतो दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसितः ॥८॥

बुद्धिमान् का अपकार करके उससे अपने को दूर न समझे क्योंकि बुद्धिमान् के बाहु बड़े २ होते हैं। इसलिये बुद्धिमान् जिन बाहुओं से दूसरों से हिसा किया जाता है उन्हीं बाहुओं से दूसरों की हिंसा[2] करता है ॥ ८ ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥ ९ ॥

विश्वास के अयोग्य (भीम) में विश्वास नहीं करना और विश्वास पात्र (युधिष्ठिरादि) का अत्यन्त विश्वास नहीं करना चाहिये, क्योंकि विश्वास से होने वाला भय मूल (जड़) का भी नाश कर देता है ॥ ९ ॥

अनीर्षुर्गुप्तदारश्च संविभागी प्रियंवदः ।
श्लक्ष्णो मधुरवाक् स्त्रीणां न चासां वशगो भवेत् ॥ १० ॥

प्यतिथिष्वप्रमत्तो भवेत् किम्पुनर्भाग्यवानिति भावः ॥ ७ ॥ दीर्घौ बाहू बुद्धया दूरस्थमप्यादातुं शक्नुत इत्यर्थः। हिंसति हिनस्ति अतिथिभक्ता दूरस्था अपि पाण्डवा न हेलनीया इति भावः ॥८॥ अविश्वस्ते भीमे न विश्वासः कार्यः ॥९॥ अनीर्षुरित्यादिसार्द्ध श्लोकत्रयस्य—गुप्तसाराः पाण्डवाः तेषां स्त्री श्रीतुल्या द्रौपदी

---

१ दरिद्र को भी अतिथि की पूजा में सावधान रहना चाहिये यदि भाग्य-वान् है तो कहना ही क्या है। २ यद्यपि अतिथियों के भक्त पाण्डव दूर हैं तो भी उनका अपमान करना उचित नहीं है।

ईर्षा रहित हो और स्त्रियों का रक्षक हो तथा धन का यथायोग्य बिभाग करने वाला हो और प्रियभाषी हो तथा कोमल स्वभाव हो और स्त्रियों के बीच मधुरभाषी हो परन्तु स्त्रियों के वश में नहीं होवे ॥ १० ॥

पूजनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद्रक्ष्या विशेषतः ॥ ११ ॥

स्त्रियां [1]पूजनीय हैं और महाभाग शाली हैं तथा पवित्रा हैं और गृह की शोभा हैं तथा गृह की लक्ष्मी कही गई हैं, इस लिये इनकी विशेष रक्षा कही गई है ॥ ११ ॥

पितुरन्तःपुरं दद्यान्मातुर्दद्यान्महानसम् ।
गोषु चात्मसमं दद्यात्स्वयमेव कृषिं व्रजेत् ॥ १२ ॥

पिता के अधिकार में अन्तःपुर (स्त्रियों का वासस्थान) और माता के अधिकार में महानस (रसोई का घर) तथा अपने सदृश में गौओं का अधिकार कर देवे और कृषि (खेती) के कार्य में स्वयं ही जाय ॥ १२ ॥

भृत्यैर्वाणिज्यचारं च पुत्रैः सेवेत च द्विजान् ।
अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्त्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ॥ १३ ॥

भृत्यों (नोकरों) के द्वारा वाणिज्य-वृत्ति का सेवन करे और पुत्रों के द्वारा [2]ब्राह्मणों का सेवन करे, क्योंकि जल से अग्नि पैदा हुआ है और ब्राह्मण से क्षत्रिय उत्पन्न है तथा पत्थर से लोहा उत्पन्न है,

---

सा पित्रा त्वया रक्षणीयैवातस्तदतिक्रमात्तव भयमस्तीति तात्पर्यम् ॥ १० ॥ प्रसङ्गात् प्रकृतेऽनुपयुक्तानपि धर्मानाह—अद्भ्य इति । एतेषां च यथालाभं प्रकृतोपयोगित्वमप्यूह्यम् । अद्भ्य इत्यादिना मैत्रेयादीनां ब्राह्मणानामवज्ञा न

---

१ पाण्डव गुप्तदार हैं इस लिये उनकी स्त्री द्रौपदी लक्ष्मी के तुल्य है वह पिता स्थानापन्न तुमसे रक्षणीय है उसके त्याग से तुमको भय होगा ।

२ मैत्रेय द्रोणाचार्य आदि ब्राह्मणों की अवज्ञा नहीं करनी चाहिये ।

इसलिये इनका तेज सर्वत्र है परन्तु इनका लय (नाश) अपनी उत्पत्ति के कारण में ही कहा गया है। तात्पर्य यहा हुआ कि क्षत्रिय अपना उत्पत्ति स्थान ब्राह्मण को समझे और उनके समीप शान्त रहे ॥ १३ ॥

तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ।
नित्यं सन्तः कुले जाताः पावकोपमतेजसः ॥ १४ ॥

श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न सत्पुरुष हमेशा अग्नि के समान हैं, परन्तु क्षमाशील होते हैं और निराकार (चेष्टारहित) रहा करते हैं जैसे काष्ठ में अग्नि शयन करता है ॥ १४ ॥

क्षमावन्तो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ।
यस्य मन्त्रं न जानन्ति बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ये ॥ १५ ॥

जिसके मन्त्र (सलाह) को बाहर तथा भीतर रहने वाले भृत्यवर्ग नहीं जानते हैं वह राजा चारों (खुपिया-भृत्यों) के द्वारा दूसरों के समाचार को जानता हुआ चिर काल तक ऐश्वर्य को भोगता है ॥१५॥

स राजा सर्वतश्चक्षुश्चिरमैश्वर्यमश्नुते ।
करिष्यन्न प्रभाषेत कृतान्येव तु दर्शयेत् ॥ १६ ॥

धर्म अर्थ काम की सिद्धि के पूर्व कार्य को किसी से नहीं कहें। किन्तु कार्य की सिद्धि होने पर प्रकाशित करे और मन्त्र (सलाह) भी फूटने न पावे ॥ १६ ॥

धर्मकामार्थकार्याणि तथा मन्त्रो न भिद्यते ।
गिरिपृष्ठमुपारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ॥ १७ ॥

पर्वत के पृष्ठ भाग में अथवा प्रासाद (अटारी) के ऊपर एकान्त में अथवा तृणादि रहित वन में जाकर मन्त्र (सलाह) करना कहा है ॥ १७ ॥

कार्येति सूचितम् ॥ १३ ॥ सर्वतश्चक्षुश्चारैः परमन्त्रं जानन् ॥ १६ ॥

अरण्ये निःशलाके वा तत्र मन्त्रोऽभिधीयते ।
नासुहृत्परमं मन्त्रं भारतार्हति वेदितुम् ॥ १८ ॥

अपण्डितो वापि सुहृत्पण्डितो वाप्यनात्मवान् ।
नापरीक्ष्य महीपालः कुर्यात्सचिवमात्मनः ॥ १९ ॥

अमात्ये ह्यर्थलिप्सा च मन्त्ररक्षणमेव च ।
कृतानि सर्वकार्याणि यस्य पारिषदा विदुः ॥ २० ॥

धर्मे चार्थे च कामे च स राजा राजसत्तमः ।
गूढमन्त्रस्य नृपतेस्तस्य सिद्धिरसंशयम् ॥ २१ ॥

हे भारत ! असुहृत् (जो मित्र नहीं है) श्रेष्ठ मन्त्र (सलाह) को जानने के योग्य नहीं है अथवा जो सुहृत है परन्तु मूर्ख है वह भी सलाह को जानने योग्य नहीं है और मित्र है तथा पण्डित भी है परन्तु चञ्चलचित्त है वह भी सलाह को जानने योग्य नहीं है। पृथिवी का रक्षक राजा विना परीक्षा किये किसी को अपना मन्त्री न बनावे, क्योंकि मन्त्री में धन लेने की इच्छा होती है और मन्त्र (सलाह) का रक्षण कहा गया है। जिस राजा की सभा के भृत्यवर्ग धर्म अर्थ और काम के समस्त कार्यों को सिद्ध होनेपर जानते हैं वह राजा राजाओं में श्रेष्ठ है और जिस राजा के सलाह गुप्त रहा करते हैं उस राजा के कार्य अवश्य सिद्ध होते हैं ॥ १८-२१ ॥

अप्रशस्तानि कार्याणि यो मोहादनुतिष्ठति ।
स तेषां विपरिभ्रंशाद्भ्रश्यते जीवितादपि ॥ २२ ॥

जो मोह वश नीच कार्यों को करता है वह उन नीच कार्यों के नष्ट

निःशलाके तृणैरनावृते तत्रापि कश्चिल्लीनश्चेन्मन्त्रभेदः सम्भवेदिति भावः ॥१८॥ अनात्मवान् प्रज्ञाहीनः ॥ १९ ॥ अप्रशस्तानि निन्द्यानि । विपरिभ्रंशात्

हो जाने से जीवन से भी गिर जाता है अर्थात् मृत्यु को प्राप्त होता है॥२२॥

कर्मणां तु प्रशस्तानामनुष्ठानं सुखावहम्।

तेषामेवाननुष्ठानं पश्चात्तापकरं मतम् ॥ २३ ॥

जो उत्तम कर्म हैं उनका अनुष्ठान (पालन) सुख को देने वाला होता है और उन्ही उत्तम कर्मों का अननुष्ठान (सेवन न करना) पश्चात्ताप कराने वाला होता है ॥ २३ ॥

अनधीत्य यथा वेदान्न विप्रः श्राद्धमर्हति।

एवमश्रुतषाड्गुण्यो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ २४ ॥

जसे ब्राह्मण विना वेदों को पढ़े श्राद्धकर्म के योग्य नहीं होता है इसी तरह जिसने षाड्गुण्य अर्थात् सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रयण ये छ गुण नहीं जाने हैं वह मन्त्र (सलाह) सुनने के योग्य नहीं है ॥ २४ ॥

स्थानवृद्धिक्षयज्ञस्य षाड्गुण्यविदितात्मनः।

अनवज्ञातशीलस्य स्वाधीना पृथिवी नृप ! ॥ २५ ॥

हे नृप ! जो राजा राज्य की स्थिति, वृद्धि और क्षय को जानता है और सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, समाश्रयण को जानता है तथा जिसका स्वभाव दूषित नहीं है उस राजा के अधीन पृथिवी रहा करती है ॥ २५ ॥

अमोघक्रोधहर्षस्य स्वयं कृत्वाऽन्ववेक्षिणः।

आत्मप्रत्ययकोशस्य वसुदैव वसुन्धरा ॥२६॥

विपरीतत्वेन भ्रंशात् ॥२२॥ षाड्गुण्यं षण्णां सन्धिविग्रहयानासनद्वैधीभावसमाश्रयाणां समूहः न श्रुतो येन सः ॥२४॥ षाड्गुण्याभिज्ञत्वेन विदित आत्मा स्वरूपं यस्य तस्य स्थानं यथास्थिततत्वावस्था। अनवज्ञातं सत्कृतं शीलमस्य ॥ २५ ॥ नवेक्षिण इति पाठे नवमिवादरेण ईक्षितुं शीलमस्य। आत्मनैव प्रत्ययो ज्ञानं

जिसके क्रोध और हर्ष व्यर्थ नहीं होते अर्थात् जिसके क्रोध से हानि और हर्ष से लाभ हो और जो भृत्यवर्ग के काम को स्वयं देखता हो तथा स्वयं खजाना को भी देखता हो तो उस राजा को पृथिवी धन को देने वाली होती है ॥ २६ ॥

नाममात्रेण तुष्येत च्छत्रेण च महीपतिः ।
भृत्येभ्यो विसृजेदर्थान्नैकः सर्वहरो भवेत् ॥२७॥

राजा केवल नाममात्र से और छत्र से सन्तुष्ट रहे और भृत्यवर्गों को विभागकर धन को देवे तथा उन धनादिकों का अकेला हरणकर्ता न होवे अर्थात् स्वयं सब न ले लेवे ॥ २७ ॥

ब्राह्मणं ब्राह्मणो वेद भर्ता वेद स्त्रियं तथा ।
अमात्यं नृपतिर्वेद राजा राजानमेव च ॥२८॥

ब्राह्मण ब्राह्मण को जानता है और पति स्त्री को जानता है तथा राजा मन्त्री को जानता है और राजा राजा को जानता है ॥२८॥

न शत्रुर्वशमापन्नो मोक्तव्यो वध्यतां गतः ।
न्यग्भूत्वा पर्युपासीत वध्यं हन्याद्बले सति ।
अहताद्धि भयं तस्माज्जायते न चिरादिव ॥२९॥

वध के योग्य शत्रु बन्धन में पड़कर वश में हुआ तो छोड़ने योग्य नहीं है, किन्तु तिरछा होकर उस बंधे हुये शत्रु को देखता रहे और अपने में बल हो तो उस वध्य शत्रु का वध कर डाले, क्योंकि वध न करने से उस शत्रु से शीघ्र ही भय उत्पन्न होता है ॥२९॥

दैवतेषु प्रयत्नेन राजसु ब्राह्मणेषु च ।
नियन्तव्यः सदा क्रोधो वृद्धबालातुरेषु च ॥३०॥

यस्य स्वयमेव ज्ञातकोशस्य ॥२६॥ नाममात्रेणैव राजा भवेत्, भोगांस्तु भृत्यैः समानानेव भुञ्जीत ॥ २७ ॥

देवता, राजा, ब्राह्मण के विषय में हमेशा प्रयत्न पूर्वक क्रोध को रोकना और वृद्ध बालक तथा रोगी के विषय में भी क्रोध को प्रयत्न पूर्वक हमेशा रोकना उचित है ॥३०॥

निरर्थं कलहं प्राज्ञो वर्जयेन्मूढसेवितम्।
कीर्तिं च लभते लोके न चानर्थेन युज्यते ॥३१॥

जो बुद्धिमान् मूर्खों से सेवित निरर्थक कलह का त्याग करता है वह इस लोक में कीर्ति को पाता है और अनर्थ से युक्त नहीं होता है॥३१॥

प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ॥३२॥

जिसका प्रसाद (प्रसन्नता) निष्फल (निरर्थक) है और क्रोध भी निरर्थक (व्यर्थ) है उसको प्रजावर्ग अपना भर्ता (भरण-पोषण कर्ता) बनाना नहीं चाहता जैसे स्त्रियां नपुंसक को अपना पति बनाना नहीं चाहती हैं ॥ ३२ ॥

न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये।
लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥३३॥

मनुष्य की बुद्धि धन-लाभ के लिये नहीं होती है और जाड्य (मूर्खता) दरिद्रता के लिये नहीं होता है। इस लोकपर्याय वृत्तान्त को अर्थात् परलोक में किये कर्म का फल इस लोक में और इस लोक में किये कर्म का फल अगले के लोक में होता है इसको प्राज्ञ (विद्वान्) लोग जानते हैं। इस विषय को मूर्खजन नहीं जानते हैं ॥ ३३ ॥

विद्याशीलवयोवृद्धान् बुद्धिवृद्धांश्च भारत !।
धनाभिजातवृद्धांश्च नित्यं मूढोऽवमन्यते ॥३४॥

लोकस्य पर्यायः इहलोकपरलोकवत्त्वं तेन तद्विषयवृत्तान्तं कर्मफलाधीनत्व-स्वरूपं प्राज्ञो जानाति। न तु बुद्ध्या धनं जाड्येन वा दारिद्र्यं लभ्यते, सर्वत्र व्यभिचारदर्शनादिति भावः ॥ ३३ ॥ अभिजातः कुलीनः ॥ ३४ ॥

हे भारत! जो विद्यावृद्ध, शीलवृद्ध, वयोवृद्ध, बुद्धिवृद्ध, धनवृद्ध, और कुलवृद्ध हैं उनका मूर्खजन नित्य अपमान किया करते हैं ॥३४॥

अनार्यवृत्तमप्राज्ञमसूयकमधार्मिकम् ।

अनर्थाः क्षिप्रमायान्ति वाग्दुष्टं क्रोधनं तथा ॥३५॥

जो उत्तम आचार से हीन है, मूर्ख है, असूयक (गुणों में दोषारोप करने वाला) है, अधार्मिक है, और दुष्ट वचन बोलने वाला तथा क्रोधी है इनके समीप शीघ्र आपत्तियाँ आ जाती हैं ॥ ३५ ॥

अविसंवादनं दानं समयस्याव्यतिक्रमः ।

आवर्तयन्ति भूतानि सम्यक् प्रणिहिता च वाक् ॥३६॥

जो वञ्चनाशून्य दान करता है और स्वकृत परकृत मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करता तथा युक्त वचन का प्रयोग करता है अर्थात् उचित वचन को कहता है वह समस्त प्राणियों को अर्थात् शत्रु को भी अपना बना लेता है ॥ ३६ ॥

अविसंवादको दक्षः कृतज्ञो मतिमानृजुः ।

अपि संक्षीणकोशोऽपि लभते परिवारणम् ॥ ३७ ॥

जो वञ्चना शून्य है और समस्त कार्यों में दक्ष (चतुर) है, तथा कृतज्ञ है और बुद्धिमान् है तथा कोमल स्वभाव है तो वह धनकोश न होने पर भी भृत्य मित्र आदि को प्राप्त करता है ॥ ३७ ॥

धृतिः क्षमो दमः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा ।

मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः ॥ ३८ ॥

धृति (धैर्य), शम (शान्ति), दम (इन्द्रियों को वश में करना),

अविसंवादनं वञ्चनाशून्यम् । समयस्य स्वपरकृतमर्यादायाः । आवर्तयन्ति शत्रूनपि स्वीयान् कुर्वन्ति । प्रणिहिता प्रयुक्ता ॥ ३६ ॥ परिवारणं परिवारान् भृत्यमित्रादीन् ॥ ३७ ॥ समिधः उद्दीपकाः ॥ ३८ ॥

शौच (पवित्रता), कारुण्य (दया), मधुर वचन, और मित्रों से वैर न करना ये सात लक्ष्मी को बढ़ाने वाले हैं ॥ ३८ ॥

असंविभागी दुष्टात्मा कृतघ्नो निरपत्रपः ।
तादृङ् नराधिपो लोके वर्जनीयो नराधिप ! ॥ ३९ ॥

हे नराधिप ! जो राजा भृत्यवर्ग तथा आश्रित वर्ग के लिये न देकर स्वयं ही भोगता है और दुष्टचित्त है तथा कृतघ्न है और निर्लज्ज है तो ऐसे राजा का त्याग कर देना चाहिये ॥ ३९ ॥

न च रात्रौ सुखं शेते ससर्प इव वेश्मनि ।
यः कोपयति निर्दोषं सदोषोऽभ्यन्तरं जनम् ॥ ४० ॥

जो दुष्टजन निर्दोष (सज्जन) के अन्तःकरण को क्रुद्ध करता है वह रात्रि में सुख से शयन नहीं करता है जैसे सर्पवाले घर में सुख से शयन नहीं करता है ॥ ४० ॥

येषु दुष्टेषु दोषः स्याद्योगक्षेमस्य भारत ! ।
सदा प्रसादनं तेषां देवतानामिवाचरेत् ॥ ४१ ॥

हे भारत ! समय पर वेतन न देने से जिन दुष्टों में अपने योग (अलब्ध का लाभ) क्षेम (लब्ध की रक्षा) का दोष आ गया हो तो उन दुष्टों को सदा प्रसन्न करे जैसे देवताओं को पूजा वगैरह देकर प्रसन्न किया जाता है ॥ ४१ ॥

येऽर्थाः स्त्रीषु समायुक्ताः प्रमत्तपतितेषु च ।
ये चानार्ये समासक्ताः सर्वे ते संशयं गताः ॥ ४२ ॥

जो धन स्त्रियों के अधीन कर दिया गया है अथवा प्रमत्त

असंविभागी पोष्येभ्योऽदत्त्वा स्वयं भुञ्जानः ॥ ३९ ॥

दुष्टेषु दूषितेषु वेतनाद्यतिक्रमात् ॥४१॥ समायुक्ता निहिताः । संशयं गताः कदाचित्प्राप्याः क्वचिदप्राप्या इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

(मतवाले) और पतितों के अधीन कर दिया गया है अथवा अनार्य (दुष्ट) के अधीन कर दिया गया है वह धन संशय में पड़ गया है अर्थात् मिले या न भी मिले ॥ ४२ ॥

यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्रानुशासिता ।
मज्जन्ति तेऽवशा राजन्नद्यामश्मप्लवा इव ॥ ४३ ॥

हे राजन् ! जहां स्त्री अथवा कितव (जुआखोर) अथवा बालक शासन कर्ता होते हैं वहां स्वतन्त्र स्वभाव वाले वे नष्ट हो जाते हैं जैसे नदी में पत्थर की नाव डूब जाती है ॥ ४३ ॥

प्रयोजनेपु ये सक्ता न विशेषेपु भारत ! ।
तानहं पण्डितान्मन्ये विशेपा हि प्रसङ्गिनः ॥ ४४ ॥

हे भारत ! जो लोग अपने हितकर कार्यों में लगे रहते हैं और व्यर्थ के कामों में आसक्त नहीं होते उनको मैं पण्डित मानता हूँ, क्योंकि व्यर्थ के कार्य सङ्घर्ष (झगड़ा) को पैदा करते हैं ॥ ४४ ॥

यं प्रशसन्ति कितवा यं प्रशंसन्ति चारणाः ।
यं प्रशंसन्ति बन्धक्यो न स जीवति मानवः ॥ ४५ ॥

जुवाडीलोग जिसकी प्रशंसा करते हैं और भाटलोग जिसकी प्रशंसा करते हैं तथा बन्धकी (व्यभिचारिणी) स्त्रियां जिसकी प्रशंसा करती हैं वह मनुष्य नहीं जीता है किन्तु शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ ४५ ॥

हित्वा तान्परमेष्वासान्पाण्डवानमितौजसः ।
आहितं भारतैश्वर्यं त्वया दुर्योधने महत् ॥ ४६ ॥

हे भारत ! बड़े २ धनुष को धारण करनेवाले और पराक्रमशाली पाण्डवों का त्याग कर आपने महान् ऐश्वर्य को दुर्योधन के अधीन कर दिया ॥ ४६ ॥

प्रसङ्गिनः प्रसङ्गः सङ्घर्षस्तत्कारिणः ॥ ४४ ॥

तं द्रक्ष्यसि परिभ्रष्टं तस्मात्त्वमचिरादिव ।
ऐश्वर्यमदसम्मूढं बलिं लोकत्रयादिव ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये-
(षष्ठो)ऽष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इसलिये आप शीघ्र ही उस दुर्योधन को ऐश्वर्य से भ्रष्ट हुआ देखोगे। जैसे ऐश्वर्यमद से प्रमत्त (पागल) बलि को तीनों लोक से भ्रष्ट हुआ सब लोगों ने देखा ॥ ४७ ॥

इति श्री महाभारते प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये व्या. आ. 'विद्यारत्न' पं० माधवप्रसादव्यासेन कृतायां भाषाटीकायामष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥३८॥ [६]

---

(७)-अथ ऊनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच ।

अनीश्वरोयं पुरुषो भवाभवे सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा ।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे कृतोऽयं तस्माद्वद त्वं श्रवणे धृतोऽहम् ॥१॥

धृतराष्ट्र विदुर जी से बोले—हे विदुर ! यह पुरुष ऐश्वर्य और अनैश्वर्य के विषय में असमर्थ है जैसे सूत में पुही हुई काष्ठ की स्त्री असमर्थ है, क्योंकि ब्रह्माने भाग्य को अपने अधीन रक्खा है इसलिये आप कहिये मैं सावधान हूँ ॥ १ ॥

विदुर उवाच ।

अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
लभते बुद्ध्यवज्ञानमवमानं च भारत ! ॥ २ ॥

अनीश्वरोऽयमिति । भवाभवे ऐश्वर्यानैश्वर्ये । दिष्टस्य वशादेव न तु मां दूषयेति भावः । धृतः धृतिमान् ॥ १ ॥ बुद्ध्यवज्ञानं अवज्ञातबुद्धित्वम् ॥ २ ॥

विदुर जी बोले—हे भारत! असमय के वचन को कहते हुये बृहस्पति भी बुद्धि की अवज्ञा और अपमान को प्राप्त करते हैं॥ २॥

प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः।
मन्त्रमूलबलेनान्यो यः प्रियः प्रिय एव सः॥ ३॥

संसार में मनुष्य दान करने से प्रिय होता है और दूसरे प्रिय-वचन बोलने से प्रिय होता है तथा तीसरे मन्त्र-बल और धन-बल से प्रिय होता है और जो प्रिय है वह प्रिय ही है उसको धन प्रियवचन मन्त्र आदि की अपेक्षा नहीं होती है॥ ३॥

द्वेष्यो न साधुर्भवति न मेधावी न पण्डितः।
प्रिये शुभानि कार्याणि द्वेष्ये पापानि चैव हि॥ ४॥

जिसका साधु पुरुष शत्रु है वह साधु उस शत्रु की दृष्टि में साधु और बुद्धिमान् तथा पण्डित नहीं होता है, क्योंकि अपने प्रिय के समस्त कार्य शुभ (प्रिय) होते हैं और जो शत्रु है उसके समस्त कार्य पापरूप (अप्रिय) ही होते हैं॥ ४॥

उक्तं मया जातमात्रेऽपि राजन्! दुर्योधनं त्यज पुत्रं त्वमेकम्।
तस्य त्यागात्पुत्रशतस्य वृद्धिरस्यात्यागात्पुत्रशतस्य नाशः॥ ५॥

हे राजन्! जिस समय यह दुर्योधन पैदा हुआ उसी समय मैंने आपसे कहा था कि एक इस दुर्योधन पुत्र का त्याग कर दें तो सौ पुत्रों की वृद्धि होगी और इस दुर्योधन का त्याग न करने से सौ पुत्रों का नाश हो जायगा॥ ५॥

मन्त्रबलेन मूलबलेन च प्रियकृत् प्रियो भवति स च दानाद्यभावे पुनरप्रियो भवति-अहं न तथा, अतस्त्वया प्राप्तकाले मदुक्तेऽनादरो न कर्तव्य इति भावः॥ ३॥ द्वेष्ये इति—यो यस्य द्वेष्यस्तस्मिन् तद्दृष्ट्या साधुत्वादिकं सदपि नास्ति, प्रिये त्वसदपि तद्दृष्ट्याऽस्तीति भावः॥ ४॥

न वृद्धिर्बहु मन्तव्या या वृद्धिः क्षयमावहेत्।
क्षयोऽपि बहु मन्तव्यो यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ॥ ६ ॥

जो वृद्धि क्षय (नाश) को प्राप्त हो उस वृद्धि को बहुत (अधिक) नहीं मानना चाहिए और जो क्षय वृद्धि को प्राप्त हो उस क्षय को भी बहुत (अधिक) मानना चाहिए ॥ ६ ॥

न स क्षयो महाराज ! यः क्षयो वृद्धिमावहेत्।
क्षयः स त्विह मन्तव्यो यं लब्ध्वा बहु नाशयेत् ॥ ७ ॥

हे महाराज ! जो क्षय वृद्धि को प्राप्त हो वह क्षय नहीं है। इस संसारमें वह क्षय माना जाता है जिसको पाकर बहुतोंका नाश करे ॥७॥

समृद्धा गुणतः केचिद्भवन्ति धनतोऽपरे।
धनवृद्धान् गुणैर्हीनान् धृतराष्ट्र ! विवर्जय ॥ ८ ॥

कुछ लोग गुणों से समृद्ध होते हैं और दूसरे लोग धन से समृद्ध होते हैं। हे धृतराष्ट्र ! जो धन से वृद्ध (समृद्ध) हैं और गुणों से हीन हैं आप उनका त्याग करें ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच।

सर्वं त्वमायतीयुक्तं भाषसे प्राज्ञसम्मतम्।
न चोत्सहे सुतं त्यक्तुं यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्र बोले कि हे विदुर ! आप जो कुछ कहते हैं वह सब परिणाम में हितकर और पण्डितों का सम्मत है। तथा जहाँ धर्म होता है वहाँ जीत होती है यह भी मुझे मालूम है फिर भी पुत्र दुर्योधन को त्यागने की इच्छा नहीं होती है ॥ ९ ॥

विदुर उवाच।

अतीव गुणसम्पन्नो न जातु विनयान्वितः।
सुसूक्ष्ममपि भूतानामुपमर्दमुपेक्षते ॥ १० ॥

आयतीयुक्तं उत्तरकाले हितम् ॥९॥ पुत्रं त्यक्तुमशक्तेन दुष्टाः शकुन्यादयो

विदुर जी धृतराष्ट्र से बोले-जो बहुत ही गुण और नम्रता से युक्त है वह प्राणियों के थोड़े भी नाश की उपेक्षा नहीं करता है ॥ १० ॥

परापवादनिरताः परदुःखोदयेषु च ।

परस्परविरोधे च यतन्ते सततोत्थिताः ॥११॥

जो लोग दूसरे की निन्दा में रत रहा करते हैं और दूसरे के दुःख-वृद्धि की चाहना करते हैं तथा दूसरों के परस्पर विरोध कराने में निरन्तर उद्यत रहा करते हैं ॥११॥

सदोषं दर्शनं येषां संवासे सुमहद्भयम् ।

अर्थादाने महान्दोषः प्रदाने च महद्भयम् ॥१२॥

जिन लोगों का दर्शन भी दोष युक्त है और जिनके साथ रहने में महान् भय है उन लोगों से धन लेने में बड़ा दोष है और उन लोगों को धन देने में महान् भय है ॥१२॥

ये वै भेदनशीलास्तु सकामा निस्त्रपाः शठाः ।

ये पापा इति विख्याताः संवासे परिगर्हिताः ॥१३॥

जो लोग परस्पर भेद (झगड़ा) कराने वाले हैं और कामी तथा निर्लज्ज हैं और शठ तथा महान् पापी होकर प्रसिद्ध हैं इनके साथ संवास अत्यन्त निन्दित कहा है ॥ १३ ॥

युक्ताश्चान्यैर्महादोषैर्ये नरास्तान् विवर्जयेत् ।

निवर्तमाने सौहार्दे प्रीतिर्नीचे प्रणश्यति ॥१४॥

और जो मनुष्य महान् दोषों से युक्त हैं उनका भी त्याग कर दे। क्योंकि सौहार्द अर्थात् मैत्रभाव के जो कारण हैं उनके न रहने पर नीच जन में प्रीति और सुख का नाश हो जाता है अर्थात् मित्रभाव के नष्ट होते ही प्रीति सुखादि भी नष्ट हो जाते हैं ॥१४॥

वा त्याज्या इत्याशयेनाह-अतीवेति, कुलविनाशो नोपेक्षणीय इति भावः ॥१०॥

या चैव फलनिर्वृत्तिः सौहृदे चैव यत्सुखम्।
यतते चापवादाय यत्नमारभते क्षये ॥१५॥

जो प्रीति ओर सुख मित्रभाव के रहने पर कहा है वह प्रीति और सुख मित्रभाव के न रहने पर नहीं रहता है किन्तु वह नीचजन मित्र की निन्दा करने में लग जाता है और मित्र के नाश का भी उपाय करता है॥ १५॥

अल्पेऽप्यपकृते मोहान्न शान्तिमधिगच्छति।
तादृशैः सङ्गतं नीचैर्नृशंसैरकृतात्मभिः।
निशम्य निपुणं बुद्ध्या विद्वान्दूराद्विवर्जयेत् ॥१६॥

नीच जन थोड़े से भी मित्र के अपराध को देखकर क्रुद्ध हो जाते हैं, उन नीचों को शान्ति नहीं होती है—ऐसे अजितेन्द्रिय घातुक नीच जनों के साथ जो सम्बन्ध है उसका अच्छी तरह बुद्धि से विचार कर विद्वान् लोग त्याग कर दें॥ १६॥

यो ज्ञातिमनुगृह्णाति दरिद्रं दीनमातुरम्।
स पुत्रपशुभिर्वृद्धिं श्रेयश्चानन्त्यमश्नुते ॥१७॥

जो अपनी जातिवालों पर, दरिद्र पर, दीन पर और रोगी पर दया करता है वह पुत्र पशु आदि की वृद्धि को पाता है और अत्यन्त श्रेय (कल्याण) का उपभोग करता है॥ १७॥

ज्ञातयो वर्धनीयास्तैर्य इच्छन्त्यात्मनः शुभम्।
कुलवृद्धिं च राजेन्द्र! तस्मात्साधु समाचर ॥१८॥

जो लोग अपने सुख की इच्छा करते हैं उनको चाहिये कि जाति वालों को बढ़ावें। हे राजेन्द्र! इसलिये आप अच्छी तरह कुल की वृद्धि करें॥ १८॥

सङ्गतं सम्बन्धम्, नृशंसैः हिंस्रैः, निशम्य विचार्य॥ १६॥

श्रेयसा योक्ष्यते राजन् कुर्वाणो ज्ञातिसत्क्रियाम् ॥१९॥

हे राजन्! ज्ञाति-सत्कार को करने से कल्याण के भागी होवगे॥१९॥

विगुणा ह्यपि संरक्ष्या ज्ञातयो भरतर्षभ ! ।
किं पुनर्गुणवन्तस्ते त्वत्प्रसादाभिकांक्षिणः ॥२०॥

हे भरतर्षभ ! गुणहीन भी जातिवाले हों तो भी उनकी रक्षा करे और जो गुणों से युक्त हैं तथा आपके कृपाभिलाषी हैं तो (ऐसे पाण्डवों का) कहना ही क्या है ॥ २० ॥

प्रसादं कुरु वीराणां पाण्डवानां विशांपते ! ।
दीयन्तां ग्रामकाः केचित्तेषां वृत्त्यर्थमीश्वर ! ॥२१॥

हे नरपते वीर पाण्डवों पर कृपा करें। हे ईश्वर ! अर्थात् समर्थ ! उन पाण्डवों की जीविका के लिये कुछ ग्राम दीजिये ॥२१॥

एवं लोके यशः प्राप्तं भविष्यति नराधिप ! ।
वृद्धेन हि त्वया कार्यं पुत्राणां तात! शासनम् ॥२२॥

हे नराधिप ! ऐसा करने से लोक में यश मिलेगा। हे तात ! आप वृद्ध हैं पुत्रों पर शासन करना आपका कर्त्तव्य है ॥२२॥

मया चापि हितं वाच्यं विद्धि मां त्वद्धितैषिणम् ।
ज्ञातिभिर्विग्रहस्तात ! न कर्तव्यः शुभार्थिना ।
सुखानि सहभोज्यानि ज्ञातिभिर्भरतर्षभ ! ॥२३॥

और हित वचनों को कहना मेरा कर्तव्य है और मैं आपका हितैषी हूं ऐसा आप समझें। हे तात! शुभ को चाहने वाला जाति वालों के साथ कलह न करे। हे भरतर्षभ ! जातिवालों के साथ भोजन करना ही सुख कहा गया है ॥२३॥

विग्रहः कलहः, शुभार्थिना ऐश्वर्यलिप्सुना ॥ २३ ॥

सम्भोजनं संकथनं सम्प्रीतिश्च परस्परम् ।
ज्ञातिभिः सह कार्याणि न विरोधः कदाचन ॥ २४ ॥

जातिवालों के साथ भोजन बात-चीत और परस्पर प्रीति करना चाहिए और जातिवालों के साथ विरोध कभी भी न करे ॥ २४ ॥

ज्ञातयस्तारयन्तीह ज्ञातयो मज्जयन्ति च ।
सुवृत्तास्तारयन्तीह दुर्वृत्ता मज्जयन्ति च ॥ २५ ॥

इस लोक में जातिवाले ही तार देते हैं और जातिवाले ही डुबा देते हैं। क्योंकि उन जातिवालों में जो अच्छे हैं वे लोग तो तार देते हैं और जो दुष्ट हैं वे लोग डुबा देते हैं ॥ २५ ॥

सुवृत्तो भव राजेन्द्र ! पाण्डवान् प्रति मानद ! ।
अधर्षणीयः शत्रूणां तैर्वृतस्त्वं भविष्यसि ॥ २६ ॥

हे राजेन्द्र ! हे मानद ! आप पाण्डवों के लिए सुवृत्त अर्थात् श्रेष्ठ आचरण वाले होवें। उन पाण्डवों से युक्त होकर शत्रुओं से आप तिरस्कार के पात्र न होवेंगे ॥ २६ ॥

श्रीमन्तं ज्ञातिमासाद्य यो ज्ञातिरवसीदति ।
दिग्धहस्तं मृग इव स एनस्तस्य विन्दति ॥ २७ ॥

जो जातिवाला श्रीमान् जातिवाले का आश्रय पाकर भी दुःख को भोगता है तो वह श्रीमान् अपने आश्रित जातिवाले के पाप का भागी होता है। जैसे विषाक्त (विष में भिगोया हुआ) बाण से मृग वध से होने वाले पाप को बहेलिया पाता है ॥ २७ ॥

पश्चादपि नरश्रेष्ठ तव तापो भविष्यति ।
तान्वा हतान्सुतान्वापि श्रुत्वा तदनुचिन्तय ॥ २८ ॥

दिग्धहस्तं विषाक्तबाणहस्तम् । स श्रीमान् । एनस्तस्य ज्ञातेरवसादजं पापं विन्दति मृगवधजं पापं विन्दति मृगवधजं पापं व्याध इवेत्यर्थः ॥ २७ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! जब पाण्डवों से पुत्रों को मारे गये सुनेंगे तब आपको पश्चात्ताप ही होगा। इस बात का आप विचार कर लें ॥ २८ ॥

येन खट्वां समारूढः परितप्येत कर्मणा ।
आदावेव न तत्कुर्यादध्रुवे जीविते सति ॥ २९ ॥

जिस कर्म के करने से चिन्तावश खटिया पर बैठकर एकान्त में सन्तप्त होना पड़े उस कर्म को पहिले ही न करे, क्योंकि जीवन तो अनिश्चित ही है ॥ २९ ॥

न कश्चिन्नापनयते पुमानन्यत्र भार्गवात् ।
शेषसंप्रतिपत्तिस्तु बुद्धिमत्स्वेव तिष्ठति ॥ ३० ॥

नीतिकर्ता शुक्राचार्य को छोड़कर और कोई अनीति नहीं करता ऐसा नहीं है-किन्तु सभी लोग अनीति करते हैं। इस लिए जो बीत गया वह बीत ही गया, अब जो शेष है उसका अर्थात् उपस्थित विषय का विचार करना चाहिए परन्तु यह बात बुद्धिमानों में ही हुआ करती है ॥३०॥

दुर्योधनेन यद्येतत्पापं तेषु पुरा कृतम् ।
त्वया तत्कुलवृद्धेन प्रत्यानेयं नरेश्वर ! ॥ ३१ ॥

यदि दुर्योधन ने उन पाण्डवों के विषय में पाप किया है परन्तु आप कुलवृद्ध हैं इसलिए हे नरेश्वर ! आपको उस पाप का प्रतिकार (मिटाने का उपाय) करना चाहिए ॥ ३१ ॥

खट्वां समारूढश्चिन्तागारं प्रविष्टः लोके आगन्तुं लज्जमान इत्यर्थः ॥ २९ ॥ न कश्चिदिति—शुक्रादन्यत्र नीतिशास्त्रकर्तारं शुक्रं विहाय अन्यः कश्चिदपि न अपनयते इति न, अपि तु सर्वोऽप्यपनयते अनीतिं करोति, अतः यत् अतीतं तत् अतीतमेव शेषस्य तत्कालोचितस्य अर्थस्य प्रतिपत्तिः विचारः कर्तव्येत्यर्थः ॥ ३० ॥ तदेवाह—दुर्योधनेनेति – प्रत्यानेयं प्रतिकर्तव्यम् ॥३१॥

तांस्त्वं पदे प्रतिष्ठाप्य लोके विगतकल्मषः।
भविष्यसि नरश्रेष्ठ ! पूजनीयो मनीषिणाम् ॥ ३२ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! उन पाण्डवों को राज्यपद पर बैठाकर आप लोक में निष्पाप होइए। ऐसा करने से बुद्धिमानोंमें आप पूजनीय होवेंगे ॥३२॥

सुव्याहृतानि धीराणां फलतः परिचिन्त्य यः।
अध्यवस्यति कार्येषु चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ३३ ॥

जो धीरों के वचनों को सुनकर परिणाम का विचार कर उत्तम फल वाले कार्यों का आरम्भ करता है तो वह चिरकाल तक यश का भागी होता है॥ ३३ ॥

असम्यगुपयुक्तं हि ज्ञानं सुकुशलैरपि।
उपलभ्यं चाविदितं विदितं चाननुष्ठितम् ॥ ३४ ॥

यदि ज्ञेय (ज्ञातव्य) का ज्ञान नहीं हुआ तो श्रेष्ठ उपदेश किया ज्ञान व्यर्थ ही है और जानकर उस [1]ज्ञान का अनुष्ठान (सेवन) नहीं किया तो भी व्यर्थ ही है ॥ ३४ ॥

पापोदयफलं विद्वान् यो नारभति वर्धते।
यस्तु पूर्वकृतं पापमविमृश्यानुवर्तते ॥ ३५ ॥

जो विद्वान् पापफल वाले कर्मों का नहीं करता वह वृद्धि को

प्रतीकारमेवाह-तानिति,प्रतिष्ठाप्य राज्यांशदानेन स्थिरीकृत्य ॥३२॥ धीराणां उपदेष्टणां सुव्याहृतानि वचनानि अध्यवस्यति निश्चयं करोति उत्तमफलं कर्मारभते इत्यर्थः ॥३३॥ सुकुशलैरप्युपयुक्तं उपदिष्टं तत् ज्ञानं वा तत् नानुष्ठितम्। मदुक्तं त्वयि निष्फलमेवेति भावः ॥३४॥ यस्य श्येनादेः फलं ब्रह्मवधादिपापोदयं पापहेतुः तत्फलं फलहेतुभूतं कर्म यो नारभते स वर्द्धते। अविमृश्य अविचार्य पापमेवानुवर्त्तते सततं करोति ॥ ३५ ॥

---

१ अर्थात् आपके विषय में मेरा कहा हुआ व्यर्थ ही हो जायगा।

प्राप्त होता है। और जो पूर्व के किये पापों का विचार न करके पापों को ही करता है ॥ ३५ ॥

अगाधपङ्के दुर्मेधा विषमे विनिपात्यते ।
मन्त्रभेदस्य षट् प्राज्ञो द्वाराणीमानि लक्षयेत् । ३६ ॥

वह दुर्बुद्धि अगाध पङ्क (कीचड़) वाले नरक में गिरता है। बुद्धिमान् इन मन्त्र (सलाह) भेद के छ द्वारों को लक्ष्य करे अर्थात् जाने ॥३६॥

अर्थसन्ततिकामश्च रक्षेदेतानि नित्यशः ।
मदं स्वप्नमविज्ञानमाकारं चात्मसम्भवम् ॥ ३७ ॥

अर्थ (धन) सन्तति (नाश रहित वृद्धि) की इच्छा करने वाला इन छ द्वारों की नित्य रक्षा करें। १ मद (मद्यपान से चित्त का विकल होना), २ स्वप्न (निद्रा), ३ अविज्ञान (दूसरे के गुप्त चारादिकों का ज्ञान न होना), ४ अपने नेत्र मुख आदि का विकार ॥ ३७ ॥

दुष्टामात्येषु विश्रम्भं दूताच्चाकुशलादपि ।
द्वाराण्येतानि यो ज्ञात्वा संवृणोति सदा नृप ! ॥ ३८ ॥

५ दुष्ट मन्त्रियों में विश्वास, ६ और अकुशल (मूर्ख) दूत का विश्वास। हे नृप ! जो इन मन्त्र भेद के द्वारों को जानकर इनको सदा बन्द करता है ॥ ३८ ॥

त्रिवर्गाचरणे युक्तः स शत्रूनधितिष्ठति ।
न वै श्रुतमविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य वा ॥ ३९ ॥

और त्रिवर्ग (धर्म अर्थ काम) के आचरण में तत्पर रहता है वह

पङ्के नरके ॥३६॥ अर्थसन्ततिः अर्थानामविच्छेदेन वृद्धिः तत्कामः । मदं सुरापानजं चित्तवैक्लव्यम् । स्वप्नं निद्राम् । अविज्ञानं परकीयगुप्तचारादेरज्ञानम् । आत्मसम्भवं आकारं नेत्रवक्त्रविकारादिकम् । तावतैव परदूता मन्त्रमुन्नयन्ति ॥३७॥ मन्त्रभेदस्य द्वाराणि संवृणोति पिदधाति ॥३८॥ श्रुतं शास्त्रम् ॥ ३९ ॥

शत्रुओं को दबा बैठता है। विना शास्त्र पढ़े अथवा विना वृद्धों की सेवा किये हैं वे ॥ ३९ ॥

धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि ।
नष्टं समुद्रे पतितं नष्टं वाक्यमशृण्वति ॥ ४० ॥

बृहस्पति के समान होकर भी धर्म अर्थ को जानने में असमर्थ ही हैं। समुद्र में गिरा हुआ पदार्थ नष्ट हो जाता है और वचन को न सुनने वालों के विषय में कहा हुआ वचन नष्ट हो जाता है ॥ ४० ॥

अनात्मनि श्रुतं नष्टं नष्टं हुतमनग्निकम् ।
मत्या परीक्ष्य मेधावी बुद्ध्या सम्पाद्य चासकृत् ॥
श्रुत्वा दृष्ट्वाथ विज्ञाय प्राज्ञैर्मैत्रीं समाचरेत् ॥ ४१ ॥

अजितेन्द्रिय में शास्त्र, भस्म में हवन नष्ट हो जाता है। इस लिये बुद्धिमान् मति से अर्थात् युक्तियों के द्वारा अनुचिन्तन से और बुद्धि (स्वानुभव) के द्वारा बारम्बार कार्ययोग्यता का निश्चय करके तथा दूसरों से सुनकर और स्वयं आकृति को देख कर बुद्धिमान् लोगोंसे मैत्री करते हैं ॥ ४१ ॥

अकीर्तिं विनयो हन्ति हन्त्यनर्थं पराक्रमः ।
हन्ति नित्यं क्षमा क्रोधमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ ४२ ॥

विनय अकीर्ति का नाश करता है, पराक्रम अनर्थ का नाश करता है, क्षमा क्रोध का हमेशा नाश करती है और आचार कुलक्षण का नाश करता है ॥ ४२ ॥

परिच्छदेन क्षेत्रेण वेश्मना परिचर्यया ।
परीक्षेत कुलं राजन् ! भोजनाच्छादनेन च ॥ ४३ ॥

मत्या मननेन युक्तिभिरनुचिन्तनेन बुद्ध्या स्वानुभवेन सम्पाद्य कार्ययोग्यतां निश्चित्य, श्रुत्वा परतः, दृष्ट्वा स्वयं, आकृत्या ज्ञात्वा विज्ञाय, पुनः पुनर्विशेषेण ज्ञात्वा प्राज्ञताम् ॥ ४१ ॥ परिच्छदः भोग्यवस्तुसामग्री ।

हे राजन् ! परिच्छद (भोग्य सामग्री) से, क्षेत्र[1] (जन्म-स्थान) से, गृह से, परिचर्या (आचार) से, भोजन से तथा वस्त्र से कुल की परीक्षा करे ॥ ४३ ॥

उपस्थितस्य कामस्य प्रतिवादो न विद्यते ।
अपि निर्मुक्तदेहस्य कामरक्तस्य किं पुनः ॥ ४४ ॥

जो कि देहाभिमान रहित पुरुष हैं उनके पास भी उपस्थित काम का त्याग कर देना नहीं होता है तो कामासक्त पुरुष के यहाँ उपस्थित काम पदार्थ का त्याग कैसे हो सकता है ? ॥ ४४ ॥

प्राज्ञोपसेविनं वैद्यं धार्मिकं प्रियदर्शनम् ।
मित्रवन्तं सुवाक्यं च सुहृदं परिपालयेत् ॥ ४५ ॥

विद्वानों की सेवा करने वाला, वैद्य, धार्मिक, प्रियदर्शन, मित्र वाला, सुन्दर वचन बोलने वाला ऐसे मित्र की अच्छी तरह रक्षा करे ॥४५॥

दुष्कुलीनः कुलीनो वा मर्यादां यो न लङ्घयेत् ।
धर्मापेक्षी मृदु ह्रीमान् स कुलीनशताद्वरः ॥ ४६ ॥

जो दुष्कुलीन अथवा कुलीन नियमों का उल्लङ्घन नहीं करता है और धर्म की अपेक्षा (इच्छा) रखता है तथा कोमल स्वभाव है और लज्जावान् है तो वह सौ १०० कुलीन से भी बढ़ करके है ॥४६॥

ययोश्चित्तेन वा चित्तं निभृतं निभृतेन वा ।
समेति प्रज्ञया प्रज्ञा तयोर्मैत्री न जीर्यति ॥ ४७ ॥

क्षेत्रेण जन्मस्थानेन कुग्रामवासिषु प्रायेण विवेकाभावात् । परिचर्यया आचारेण ॥ ४३ ॥ वैद्यं विद्यावन्तम् ॥ ४५ ॥ चित्तं ज्ञानमात्रम् । निभृतं गूढाचारप्रवृत्तं मन्त्रयन्त्रादि, प्रज्ञाविशेषतोऽर्थोन्नयनक्षमता ॥ ४७ ॥

१ निन्दित ग्रामवासी जनों में प्रायः विचारशक्ति नहीं हुआ करती है ।

जिन दोनों में चित्त से चित्त, गुप्त मन्त्र यन्त्र आदि से गुप्त मन्त्र यन्त्र आदि और बुद्धि से बुद्धि परस्पर मिलती हो तो उन दोनों की मैत्री कभी जीर्ण (नष्ट) नहीं होती है ॥ ४७ ॥

दुर्बुद्धिमकृतप्रज्ञं छन्नं कूपं तृणैरिव।
विवर्जयीत मेधावी तस्मिन्मैत्री प्रणश्यति ॥ ४८ ॥

जो दुर्बुद्धि है और विचार शक्ति से हीन है उसका तृणों से आच्छन्न कूप के समान बुद्धिमान् लोग त्याग कर दें, क्योंकि उस पुरुष के साथ की हुई मित्रता नष्ट हो जाती है ॥ ४८ ॥

अवलिप्तेषु मूर्खेषु रौद्रसाहसिकेषु च।
तथैवापेतधर्मेषु न मैत्रीमाचरेद् बुधः ॥ ४९ ॥

अभिमानी, मूर्ख, क्रोधी, साहसिक अर्थात् विना विचारे कार्य को करने वाला और धर्महीन पुरुषों के साथ विद्वान् मैत्री को न करे ॥४९॥

कृतज्ञं धार्मिकं सत्यमक्षुद्रं दृढभक्तिकम्।
जितेन्द्रियं स्थितं स्थित्यां मित्रमत्यागि चेष्यते ॥ ५० ॥

जो कृतज्ञ (उपकार को याद करने वाला) है, धार्मिक है, सत्यवक्ता है, क्षुद्रता हीन है, दृढ भक्तिमान है, जितेन्द्रिय है और मर्यादा में स्थित है तो ऐसा मित्र त्याग के योग्य नहीं है ॥ ५० ॥

इन्द्रियाणामनुत्सर्गो मृत्युनापि विशिष्यते।
अत्यर्थं पुनरुत्सर्गः सादयेद्दैवतानपि ॥ ५१ ॥

इन्द्रियों को विषयों के तरफ से रोकना मृत्यु से भी अधिक कष्टदायक है, परन्तु विषयों में उन इन्द्रियों को अधिक लवलीन करना देवताओं का भी नाश कर देता है ॥ ५१ ॥

रौद्राः कोपनाः। साहसिकाः अविमृश्यकारिणस्तेषु ॥४९॥ इन्द्रियाणां उत्सर्गो विषयेषु प्रवृत्तिः, अनुत्सर्गो विषयेभ्यो निवृत्तिः सा मृत्युतुल्या दुरनुष्ठेयेत्यर्थः॥५१॥

मार्दवं सर्वभूतानामनसूया क्षमा धृतिः ।

आयुष्याणि बुधाः प्राहुर्मित्राणां चाविमानता ॥ ५२ ॥

समस्त प्राणियों में कोमल स्वभाव का होना, अनसूया अर्थात् गुणियों में दोषारोप न करना, क्षमाशील का होना, धृति अर्थात् धीर होना, और मित्रों का अपमान न करना ये सब आयु के वर्द्धक हैं ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥ ५२ ॥

अपनीतं सुनीतेन योऽर्थं प्रत्यानिनीषते ।

मतिमास्थाय सुदृढं तदकापुरुषव्रतम् ॥ ५३ ॥

जो नष्ट हुये धन को स्थिर बुद्धि करके नीति से लौटा लेने की इच्छा करता है सो यह सत्पुरुषों का व्रत है ॥ ५३ ॥

आयत्यां प्रतिकारज्ञस्तदात्वे दृढनिश्चयः ।

अतीते कार्यशेषज्ञो नरोऽर्थैर्न प्रहीयते ॥ ५४ ॥

जो पुरुष आयति अर्थात् आने वाले समय के विषय में प्रतीकार (निवारण उपाय) को जानता है और वर्तमान समय के आरब्ध कार्य में दृढ़ निश्चय वाला है तथा अतीत अर्थात् व्यतीत कार्य के शेष (अवशिष्ट) कार्य को जानता है वह मनुष्य कभी धनादिकों से रहित नहीं होता है ॥ ५४ ॥

कर्मणा मनसा वाचा यदभीक्ष्णं निषेवते ।

तदेवापहरत्येनं तस्मात्कल्याणमाचरेत् ॥ ५५ ॥

मनुष्य मन वचन कर्म से जिस कार्य को बारम्बार (सदा) करता है वह कार्य उस पुरुष को अपने तरफ़ खींच लेता है इस लिए कल्याण (शुभ) कर्म को करे ॥ ५५ ॥

आयुष्याणि आयुःकराणि ॥५२॥ अपनीतं अन्यायेन नाशितम् ॥५३॥ आयत्यां आगामिनि काले दुःखस्य प्रतीकारज्ञः । तदात्वे वर्त्तमाने दृढनिश्चयः भोगं विना प्राप्तस्य दुःखस्य नाशो नास्तीति ज्ञात्वा तत्सम्बन्धेऽपि नोत्तपति ॥५४॥

मङ्गलालम्भनं योगः श्रुतमुत्थानमार्जवम्।
भूतिमेतानि कुर्वन्ति सतां चाभीक्ष्णदर्शनम्॥ ५६॥

मङ्गल पदार्थों का स्पर्श करना, योग अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोकना, शास्त्राभ्यास, उद्यम, कोमल स्वभाव का होना और सत्पुरुषों का बारम्बार दर्शन करना ये सब ऐश्वर्य को करने वाले हैं॥ ५६॥

अनिर्वेदः श्रियो मूलं लाभस्य च शुभस्य च।
महान्भवत्यनिर्विण्णः सुखं चानन्तमश्नुते॥ ५७॥

अनिर्वेद (चिन्तामग्न न होना) लक्ष्मी का कारण है और लाभ शुभ का भी कारण है, इस लिए जो अनिर्विण्ण मनुष्य है वह श्रेष्ठ हो जाता है और अनन्त सुख को भोगता है॥ ५७॥

नातः श्रीमत्तरं किञ्चिदन्यत्पथ्यतमं मतम्।
प्रभविष्णोर्यथा तात! क्षमा सर्वत्र सर्वदा॥ ५८॥

हे तात! जैसी समर्थ पुरुष की क्षमा सर्वत्र हमेशा हितकर कही है इसके अतिरिक्त और कुछ भी सुन्दर तथा हितकर नहीं कहा गया है॥ ५८॥

क्षमेदशक्तः सर्वस्य शक्तिमान्धर्मकारणात्।
अर्थानर्थौ समौ यस्य तस्य नित्यं क्षमा हिता॥ ५९॥

जो असमर्थ है वह सबके विषय में क्षमा करे, जो शक्तिशाली है वह धर्म के कारण क्षमा करे। जिस पुरुष के लिये अर्थ और अनर्थ दोनों समान हैं उस पुरुष को नित्य क्षमा करना ही हितकर है॥५९॥

मङ्गलानां दधिदूर्वागवादीनां आलम्भनं स्पर्शः। योगः सहायसम्पत् उत्थानं उद्यमः॥ ५६॥ अनिर्वेदः उद्योगात् अनुपरमः॥ ५७॥ तस्य मध्यमस्य-यो न शक्तः नाप्यशक्तस्तस्येत्यर्थः, सर्वेषां क्षमा श्रेयस्करीत्यर्थः॥ ५९॥

यत्सुखं सेवमानोऽपि धर्मार्थाभ्यां न हीयते ।
कामं तदुपसेवेत न मूढव्रतमाचरेत् ॥ ६० ॥

जिस सुख के सेवन करने में धर्म और अर्थ से भ्रष्ट नहीं होता है तो उस सुख का यथेष्ट सेवन करे, किन्तु मूढव्रत का सेवन न करे अर्थात् सर्वथा भोजन आच्छादन आदि सुख पदार्थ का त्याग न करे ॥ ६० ॥

दुःखार्तेषु प्रमत्तेषु नास्तिकेष्वलसेषु च ।
न श्रीर्वसत्यदान्तेषु ये चोत्साहविवर्जिताः ॥ ६१ ॥

जो दुःख से पीड़ित हैं, नास्तिक हैं, आलसी हैं, अजितेन्द्रिय हैं और उत्साह हीन हैं उन पुरुषों के यहाँ लक्ष्मी नहीं रहती है ॥ ६१ ॥

आर्जवेन नरं युक्तमार्जवात्सव्यपत्रपम् ।
अशक्तं मन्यमानास्तु धर्षयन्ति कुबुद्धयः ॥ ६२ ॥

जो सरल स्वभाव का मनुष्य है और सरल स्वभाव होने से लज्जा युक्त है तो उस पुरुष को कुबुद्धि जन शक्तिहीन समझते हुए उसका अनादर करने लगते हैं ॥ ६२ ॥

अत्यार्यमतिदातारमतिशूरमतिव्रतम् ।
प्रज्ञाभिमानिनं चैव श्रीर्भयान्नोपसर्पति ॥ ६३ ॥

जो अति श्रेष्ठ हैं और अधिक दानी हैं तथा अत्यन्त शूर वीर हैं और अधिक व्रत के करनेवाले हैं तथा बुद्धि का अभिमान करनेवाले (अर्थात् मैं अधिक बुद्धिमान् हूँ ऐसा अपने को मानने वाले) हैं उनके पास लक्ष्मी भय से नहीं जाती है ॥ ६३ ॥

मूढव्रतं आहारादौ अतिनिर्बन्धम् ॥६०॥ अदान्तेषु लिप्साहीनेषु ॥ ६१ ॥ सव्यपत्रपं सलज्जम् ॥ ६२ ॥ अत्यार्यं अत्यन्तमकुटिलम् ॥ ६३ ॥

न चातिगुणवत्स्वेषा नात्यन्तं निर्गुणेषु च।
नैषा गुणान्कामयते नैर्गुण्यान्नानुरज्यते॥
उन्मत्ता गौरिवान्धा श्रीः क्वचिदेवावतिष्ठते॥ ६४॥

यह लक्ष्मी न तो अधिक गुणवानों में रहती है और न यह अत्यन्त निर्गुणों में ही रहती है, क्योंकि न तो यह गुणों की चाहना करती है और न यह गुणाभाव (गुणरहित) होने से ही प्रेम करती है किन्तु यह लक्ष्मी उन्मत्त अन्धी गौ के समान कहीं स्वयं स्थित हो (ठहर) जाती है॥ ६४॥

अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतम्।
रतिपुत्रफला नारी दत्तभुक्तफलं धनम्॥ ६५॥

वेदाध्ययन का फल अग्निहोत्र करना कहा गया है और शास्त्राध्ययन का फल शील और आचार का होना कहा है तथा स्त्री का फल अर्थात् विवाह करके स्त्री प्राप्त करने का फल रतिसुख और पुत्र का होना कहा गया है तथा धन होने का फल दान देना और भोजन आदि सुखभोग करना कहा है॥ ६५॥

अधर्मोपार्जितैरर्थैर्यः करोत्यौर्ध्वदेहिकम्।
न स तस्य फलं प्रेत्य भुंक्तेऽर्थस्य दुरागमात्॥ ६६॥

जो पापकर्म के द्वारा सञ्चित किये हुये धन से और्ध्वदेहिक अर्थात् परलोक के साधक यज्ञादि कर्म को करता है वह परलोक में जाकर उस यज्ञादि कर्म के फल को दुष्ट कर्म से मिलने के कारण नहीं भोगता॥ ६६॥

कान्तारे वनदुर्गेषु कृच्छ्रास्वापत्सु सम्भ्रमे।
उद्यतेषु च शस्त्रेषु नास्ति सत्त्ववतां भयम्॥ ६७॥

और्ध्वदेहिकं परलोकसाधनं यज्ञदानादि॥ ६६॥

कान्तार (घोर वन) में, वन से घिरे हुये दुर्गस्थानों में, कष्ट में, आपत्ति में, सम्भ्रम में और वध के लिये शस्त्रों को उठा लेने पर धैर्यवान् पुरुषों को भय नहीं होता है ॥ ६७ ॥

उत्थानं संयमो दाक्ष्यमप्रमादो धृतिः स्मृतिः ।

समीक्ष्य च समारम्भो विद्धि मूलं भवस्य तु ॥ ६८ ॥

उत्थान (उद्योग), संयम (इन्द्रियों का संयम), दाक्ष्य (चतुरता), अप्रमाद (सावधान होना), धृति (धैर्य), स्मृति (स्मरण शक्ति का होना), और विचार कर कार्य को करना ये सब ऐश्वर्य के मूल कारण हैं ॥ ६८ ॥

तपो बलं तापसानां ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् ।

हिंसा बलमसाधूनां क्षमा गुणवतां बलम् ॥ ६९ ॥

तपस्वियों का बल तपस्या है और वेदपाठियों का बल वेद है तथा दुष्टों का बल हिंसा है और गुणवानों का बल क्षमा है ॥ ६९ ॥

अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं फलं पयः ।

हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम् ॥ ७० ॥

जल, मूल, फल, दूध, हवि (घी), ब्राह्मण की इच्छा, गुरु के वचन, औषध ये आठ व्रत के नाशक नहीं होते हैं ॥ ७० ॥

न तत्परस्य संदध्यात्प्रतिकूलं यदात्मनः ।

संग्रहेणैष धर्मः स्यात्कामादन्यः प्रवर्तते ॥ ७१ ॥

जो कर्म अपनी आत्मा के प्रतिकूल हो उस कर्म को दूसरे के लिये भी नहीं करे इस तरह संग्रह करने से धर्म होता है और जो कर्म अपनी इच्छामात्र से किया जाय अर्थात् प्रतिकूल अथवा अनुकूल

संयमः इन्द्रियाणां निग्रहः। भवस्य ऐश्वर्यस्य ॥६८॥ ब्राह्मणकाम्या ब्राह्मणस्य इच्छा तदाश्रयेत्यर्थः ॥७०॥ संदध्यात् कुर्यात् । अन्योऽधर्मः । कामात् इच्छया

होगा इसका विचार नहीं किया गया तो उस कर्म से अधर्म होता है॥७१॥

अक्रोधेन जयेत्क्रोधमसाधु साधुना जयेत्।
जयेत्कदर्यं दानेन जयेत्सत्येन चानृतम्॥ ७२॥

अक्रोध (क्रोधत्याग) से क्रोध को जीतै और साधु (परोपकार) कर्म से असाधु (दुष्ट कर्म) को जीते तथा दानकर्म से कदर्य (कृपणता) को जीते और सत्यकम से अनृत (झूठ) को जीते॥ ७२॥

स्त्रीधूर्तकेऽलसे भीरो चण्डे पुरुषमानिनि।
चौरे कृतघ्ने विश्वासो न कार्यो न च नास्तिके॥ ७३॥

स्त्री, धूर्त, आलसी, भीरु (डरपोक), चण्ड (क्रोधी), पुरुषाभिमानी, चोर, कृतघ्न और नास्तिक का विश्वास न करे॥ ७३॥

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि संप्रवर्धन्ते कीर्तिरायुर्यशोबलम्[1]॥ ७४॥

जो अपने से श्रेष्ठ गुरुजनों को प्रणाम करनेवाला है और वृद्धों की सेवा करनेवाला है उस पुरुष के कीर्ति, आयु, यश और बल ये चार बढ़ते हैं॥ ७४॥

अतिक्लेशेन येऽर्थाः स्युर्धर्मस्यातिक्रमेण वा।
अरेर्वा प्रणिपातेन मा स्म तेषु मनः कृथाः॥ ७५॥

जो धन अधिक कष्ट से हों और धर्म के त्याग करने से हों तथा शत्रु के समीप नम्र होनेसे हों उन धनों में मन को मत लगाओ॥७५॥

अविद्यः पुरुषः शोच्यः शोच्यं मैथुनमप्रजम्।
निराहाराः प्रजाः शोच्याः शोच्यं राष्ट्रमराजकम्॥ ७६॥

॥ ७१॥ साधुना कर्मणा॥ ७२॥ स्त्रीधूर्तके स्त्रियां धूर्ते चेति भावः॥ ७४॥

१ मनुस्मृति में 'आयुर्विद्यायशो बलम्'। पाठ है अर्थात् आयु, विद्या, यश और बल इनकी वृद्धि होती है।

विद्याहीन पुरुष शोच्य (शोक का विषय) है और अग्रज सन्तान हीन मैथुन (स्त्री के साथ रति) शोच्य है तथा निराहार प्रजा शोच्य है और राजा से रहित राष्ट्र शोच्य है ॥ ७६ ॥

अध्वा जरा देहवतां पर्वतानां जलं जरा ।
असम्भोगो जरा स्त्रीणां वाक्शल्यं मनसो जरा ॥ ७७ ॥

देहधारियों की बुढ़ौती मार्ग है और पर्वतों की जरा जल है तथा स्त्रियों की जरा असम्भोग है और मन की जरा दुष्ट वचन है ॥ ७७ ॥

अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम् ॥ ७८ ॥
मलं पृथिव्या बाह्लीकाः पुरुषस्यानृतं मलम् ।
कौतूहलमला साध्वी विप्रवासमलाः स्त्रियः ॥ ७९ ॥

वेदों का अनभ्यास मल है और ब्राह्मणों का अव्रत (अनाचार) मल है तथा पृथ्वी का बाल्हीक देश मल है और पुरुष का अनृत (असत्य) मल है । तथा पतिव्रता का कौतूहल (कटाक्ष हास्य क्रीडा आदि) मल है और स्त्रियों का परगृह में वास मल है ॥ ७८-७९ ॥

सुवर्णस्य मलं रूप्यं रूप्यस्यापि मलं त्रपु ।
ज्ञेयं त्रपुमलं सीसं सीसस्यापि मलं मलम् ॥ ८० ॥

सुवर्ण का चांदी मल है और चांदी का रांगा मल है तथा रांगा का सीसा मल है और सीसा का मल मल है ॥ ८० ॥

न स्वप्नेन जयेन्निद्रां न कामेन जयेत्स्त्रियः ।
नेन्धनेन जयेदग्निं न पानेन सुरां जयेत् ॥ ८१ ॥

शयन करके निद्रा को न जीते और काम (रति) से स्त्रियों को न जीते तथा इन्धन (काष्ठ) से अग्नि को न जीते और मदिरापान से मदिरा को न जीते ॥ ८१ ॥

वाक्शल्यं दुर्वचनम् ॥७७॥ अनाम्नायः अनभ्यास एव मलं येषाम् ॥७८॥ बाल्हीकाः 'पञ्चानां सिन्धुषष्ठानां नदीनां यत्र सङ्गमः। बाल्हीका नाम ते देशाः'। विप्रवासः प्रवासः ॥ ७९ ॥ स्वप्नेन शयनेन ॥ ८१ ॥

यस्य दानजितं मित्रं शत्रवो युधि निर्जिताः।
अन्नपानजिता दाराः सफलं तस्य जीवितम् ॥ ८२ ॥

जिसने दान से अर्थात् धनादि देकर मित्रों को जीत (वश में कर) लिया है और संग्राम में शत्रुओं को जीत लिया है तथा अन्न दुग्धपान आदि से स्त्री को जीत लिया है उस पुरुष का जीवन सफल है ॥८२॥

सहस्रिणोऽपि जीवन्ति जीवन्ति शतिनस्तथा।
धृतराष्ट्र! विमुञ्चेच्छां न कथञ्चिन्न जीव्यते ॥ ८३ ॥

हे धृतराष्ट्र! जैसे आयुष्य के रहते सहस्रपति जीवित रहते हैं वैसे शतपति (सौ के मालिक) भी जीवित रहते हैं इसलिये अधार्मिक इच्छा का त्याग न करोगे तो भी किसी तरह जीवित रह सकते हो ॥८३॥

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति पश्यन्न मुह्यति ॥ ८४ ॥

जो इस पृथिवी पर धान यव सुवर्ण पशु स्त्री वर्ग है वह सब एक पुरुष के लिये पर्याप्त नहीं है। यदि पुरुष इसका विचार कर देखने वाला है तो वह पुरुष मोह को प्राप्त नहीं होता ॥ ८४ ॥

राजन्! भूयो ब्रवीमि त्वां पुत्रेषु सममाचर।
समता यदि ते राजन्! स्वेषु पाण्डुसुतेषु वा ॥ ८५ ॥

हे राजन्! यदि आपकी अपने और पाण्डुपुत्रों में समता है तो हे राजन्! मैं आपको फिर भी कहता हूँ कि पुत्रों के विषय में सम व्यवहार करें अर्थात् यथाभाग उन पाण्डवों को राज्य दीजिये ॥८५॥

इति श्रीमहाभारते प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये पं० माधवप्रसाद-
व्यासेन कृतायां भाषाटीकायां [७] एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥३९॥

यदि ते स्वेषु पुत्रेषु पाण्डवेषु च समता अस्ति तर्हि सर्वेषु सममेवाचर। यथाभागं राज्यं तेभ्यो देहीत्यर्थः ॥ ८५ ॥

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः।

विदुर उवाच।

योऽभ्यर्चितः सद्भिरसज्जमानः करोत्यर्थं शक्तिमहापयित्वा।
क्षिप्रं यशस्तं समुपैति सन्तमलं प्रसन्ना हि सुखाय सन्तः॥ १॥

विदुरजी धृतराष्ट्र से बोले कि हे राजन्! जो सत्पुरुषों से पूजित होकर अभिमान रहित है और यथाशक्ति कार्य को करता है उस साधु पुरुष के समीप शीघ्र ही कीर्ति आकर प्राप्त होती है। और ऐसे जो साधु पुरुष हैं वे प्रसन्न होकर सुख देने में समर्थ कहे गये हैं॥ १॥

महान्तमप्यर्थमधर्मयुक्तं यः सन्त्यजत्यनपाकृष्ट एव।
सुखं सुदुःखान्यवमुच्य शेते जीर्णां त्वचं सर्प इवावमुच्य॥ २॥

महान् भी कार्य यदि अधर्मयुक्त है तो उसके वशीभूत न होकर जो उसका त्याग कर देता है वह अति दुःखको छोड़कर सुखसे शयन करता है, जैसे सर्प जीर्ण त्वचा (केचुली) को छोड़कर सुखसे शयन करता है॥२॥

अनृते च समुत्कर्षो राजगामि च पैशुनम्।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया॥ ३॥

असत्य कार्य में अधिक तेजी और राजा तक पहुँचने वाली चुगली तथा गुरुजनों के समीप असत्य के विषय में हठ करना ये सब ब्रह्महत्या के समान हैं॥ ३॥

असूयैकपदं मृत्युरतिवादः श्रियो वधः।
अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः॥ ४॥

योऽभ्यर्चित इति—असज्जमानः अभिमानशून्यः। शक्ति महापयित्वा अनतिक्रम्य यथाशक्तीत्यर्थः। सन्तं साधुं उपैति लभते यतः प्रसन्नाः सन्तः साधवः सुखाय अलं सुखं दातुं पर्याप्ताः॥१॥ अनपाकृष्टः परैरपकर्षमप्रापितोऽपि॥२॥ समुत्कर्षः अनृतकार्ये महती तत्परतेत्यर्थः॥ ३॥ एकपदं प्रधानास्पदम्॥४॥

मृत्यु का एक पैर असूया है और अतिवाद कटु वचन (द्वारा झगड़ा) लक्ष्मी का नाशक है तथा अशुश्रूषा (सेवा न करना), त्वरा (जल्दीबाजी), श्लाघा (आत्मप्रशंसा), ये तीन विद्या के शत्रु हैं ॥ ४ ॥

आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च ।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च ॥
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ॥ ५ ॥

आलस्य, मद, मोह, चपलता, गोष्ठी (सभा), स्तब्धता (चुप रहना), अभिमानिता, विषयभोग न छोडना ये सात विद्यार्थियों के दोष कहे गये हैं ॥ ५ ॥

सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम् ।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम् ॥ ६ ॥

सुख के चाहने वाले को विद्या कहाँ से हो सकती है और विद्या को चाहने वाले को सुख कहाँ से हो सकता है ? जो सुखार्थी है वह विद्या को छोड़ दे और जो विद्यार्थी है वह सुख को छोड़ देवे ॥ ६ ॥

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥ ७ ॥

अग्नि काष्ठों से तृप्त नहीं होता है और समुद्र नदियों से तृप्त नहीं होता है तथा यमराज समस्त भूतों (प्राणियों) से तृप्त नहीं होता है और स्त्री पुरुषों के साथ रति से तृप्त नहीं होती है ॥ ७ ॥

आशा धृतिं हन्ति समृद्धिमन्तकः क्रोधः श्रियं हन्ति यशः कदर्यता ।
अपालनं हन्ति पशूंश्च राजन्नेकः क्रुद्धो ब्राह्मणो हन्ति राष्ट्रम् ॥ ८ ॥

हे राजन् ! आशा धैर्य का नाश करती है और काल समृद्धि का

स्तब्धता औद्धत्यम् । अभिमानः दर्पः तद्वत्त्वम् । अत्यागित्वं लुब्धता । मदमोहौ एकीकृत्य सप्त ॥ ५ ॥

नाश करता है तथा क्रोध लक्ष्मी का नाश करता है और कदर्यता (कृपणता) यश का नाश करती है तथा अपालन (पालन न करना) पशुओं का नाश करता है और क्रुद्ध ब्राह्मण राज्यका नाश कर देता है ॥८॥

अजाश्च कांस्यं रजतं च नित्यं मध्वाकर्षः शकुनिः श्रोत्रियश्च ।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीन एतानि ते सन्तु गृहे सदैव ॥ ९ ॥

अजा (बकरी), कांस्य (कांसा), रजत (चांदी), मधु (शहद), आकर्ष, शकुनि (पक्षी), श्रोत्रिय (वेदपाठी ब्राह्मण), वृद्ध, जाति, अवसन्न, कुलीन ये सब तुम्हारे गृह में हमेशा रहें ॥ ९ ॥

अजोक्षा चन्दनं वीणा आदर्शो मधुसर्पिषी ।
विषमौदुम्बरं शङ्खः स्वर्णनाभोऽथ रोचना ॥ १० ॥

अजा (बकरी), उक्षा (बैल), चन्दन, वीणा, आदर्श (दर्पण), मधु (शहद), सर्पि (घी), विष, शङ्ख, स्वर्णनाभ (गण्डकी नदी से उत्पन्न प्रतिमा), और गोरोचन ॥ १० ॥

गृहे स्थापयितव्यानि धन्यानि मनुरब्रवीत् ।
देवब्राह्मणपूजार्थमतिथीनां च भारत ॥ ११ ॥

हे भारत ! ये सब धन को बढ़ाने वाले हैं इनको देवता ब्राह्मण और अतिथियों की पूजा के लिये अपने गृह में रखना चाहिये । ऐसा मनु भगवान् ने कहा है ॥ ११ ॥

इदं च त्वां सर्वपरं ब्रवीमि पुण्यं पदं तात ! महाविशिष्टम् ।
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ॥१२॥

आकर्षः विषादीनाम् ॥९॥ अजेन सहितः उक्षा वृषभः, अजोक्षा । औदुम्बरं ताम्रमयं पात्रजातम् । 'उदुम्बरं स्मृतं ताम्रम्' इति विश्वः । विषं लोहमिति सर्वज्ञः । स्वर्णनाभः शालग्रामः, दक्षिणावर्त्तः शङ्खः इति नारायणः ॥ १० ॥ धन्यानि मङ्गलावहानि ॥ ११ ॥ सर्वपरं सर्वेभ्यः पुण्यहेतुभ्यः परं उत्कृष्टम् । महाविशिष्टं महेन उत्सवेन अविशिष्टं समानं माङ्गलिकमित्यर्थः ॥ १२ ॥

हे तात ! सबों में श्रेष्ठ आपको मैं यह अति उत्तम और पुण्यप्रद वचन को कहता हूँ कि काम से भय से लोभ से और प्राण के भय से भी कदापि धर्म का त्याग न करे ॥ १२ ॥

नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।
त्यक्त्वाऽनित्यं प्रतितिष्ठस्व नित्ये सन्तुष्य त्वं तोषपरो हि लाभः ॥१३॥

धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और जीव का कारण जो शरीरादि है वह अनित्य है। इस लिये अनित्य (शरीरादि) का त्याग कर अर्थात् शरीरादि अनित्य पदार्थों में ममता का त्याग कर नित्य जो धर्म है उसमें स्थित होवें और सन्तोष को करें, क्यों कि सन्तोष करना ही लाभ है ॥ १३ ॥

महाबलान्पश्य महानुभावान् प्रशास्य भूमिं धनधान्यपूर्णाम् ।
राज्यानि हित्वा विपुलांश्च भोगान् गतान्नरेन्द्रान् वशमन्तकस्य ॥१४॥

हे धृतराष्ट्र ! महाबली तथा महा प्रभावशाली राजश्रेष्ठों को देखिये जो कि धन धान्य से पूर्ण पृथिवी का शासन कर राज्य और विपुल भोगों का त्याग कर काल के वश हो गये ॥ १४ ॥

मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं मनुष्या उत्क्षिप्य राजन् ! स्वगृहान्निर्हरन्ति ।
तं मुक्तकेशाः करुणं रुदन्ति चितामध्ये काष्ठमिव क्षिपन्ति ॥१५॥

हे राजन् ! दुःख से पालन किये गये मृत पुत्र को उठा कर मनुष्य लोग अपने गृह से बाहर निकाल देते हैं और माथे का बाल खोल कर करुणापूर्वक रोदन करते हैं तथा काष्ठ के समान उस मृत पुत्र को चिता के बीच में डाल देते हैं ॥ १५ ॥

अस्य जीवत्वस्य हेतुरविद्या। अनित्यं सुखदुःखे अविद्यां च। नित्ये धर्मे निरवद्ये आत्मनि च प्रतितिष्ठस्व निष्ठां कुरु। सन्तुष्य सन्तोषं प्राप्नुहि। तोषः पर उत्कृष्टः यस्मिन् लाभे ॥१३॥ दुःखपुष्टं—क्लेशेन संवर्द्धितम्, स्वगृहात् निर्हरन्ति दूरीकुर्वन्ति ॥ १५ ॥

अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुङ्क्ते वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून् ।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः ॥१६॥

प्रेतभाव को प्राप्त पुरुष के धन को दूसरे लोग भोगते हैं और शरीर, धातु को पक्षी और अग्नि भोगते हैं तथा जीव पुण्य और पाप से युक्त होकर पुण्य और पाप के साथ परलोक को जाता है ॥ १६ ॥

उत्सृज्य विनिवर्तन्ते ज्ञातयः सुहृदः सुताः ।
अपुष्पानफलान् वृक्षान् यथा तात ! पतत्रिणः ॥ १७ ॥

हे तात ! जैसे विना फूल फल के वृक्ष को छोड़ कर पक्षी लोग अन्यत्र चले जाते हैं उसी तरह जाति वाले, सुहृद और पुत्र आदि मृतक को छोड़ कर चले जाते हैं ॥ १७ ॥

अग्नौ प्रास्तं तु पुरुषं कर्मान्वेति स्वयंकृतम् ।
तस्मात्तु पुरुषो यत्नाद्धर्मं सञ्चिनुयाच्छनैः ॥ १८ ॥

अग्नि में जलने के लिये डाले गये मृत पुरुष के साथ स्वयं किये हुये कर्म चला करते हैं इसलिये पुरुष यत्नपूर्वक शनैः (क्रम से) धर्म का सञ्चय करें ॥ १८ ॥

अस्माल्लोकादूर्ध्वममुष्य चाधो महत्तमस्तिष्ठति ह्यन्धकारम् ।
तद्वै महामोहनमिन्द्रियाणां बुध्यस्व मा त्वां प्रलभेत राजन् ! ॥१९॥

हे राजन् ! इस लोक के ऊपर स्वर्ग लोक है और स्वर्ग से तथा इस लोक से नीचे के पाताल लोक में तमोगुण प्रधान (तमोगुणी) पुरुषों से सेवित अन्धकार अर्थात् अन्धतामिस्र नरक है, वह इन्द्रियों को महा मोह पैदा करने वाला है उस नरक को आप जानें। हे राजन् ! जिसमें राग से अन्ध आपको वह नरक स्पर्श न करे ॥ १९ ॥

उत्सृज्य मृतस्य देहं त्यक्त्वा विनिवर्तन्ते श्मशानात् प्रत्यावर्तन्ते ॥ १७ ॥
अस्माल्लोकादूर्ध्वं स्वर्गं अमुष्य अमुष्मात् स्वर्गात् । चकारात् अस्माच्च अधः पाताले । महत्तमः तमोगुणप्रधानैः पुरुषैः प्राप्यं स्थानं अन्धकारं अप्रकाशं तत् अन्धतमः अन्धतामिस्राख्यं नरकं बुद्ध्यस्व, मा त्वां रागान्धं प्रलभेत स्पृशेत् ॥१९॥

इदं वचः शक्ष्यसि चेद्यथावन्निशम्य सर्वं प्रतिपत्तुमेव।
यशः परं प्राप्स्यसि जीवलोके भयं न चामुत्र न चेह तेऽस्ति ॥२०॥

हे राजन! यदि आप इन उक्त वचनों को यथावत् सुनकर जानने के लिये समर्थ होंगे तो इस जीवलोक में परम यश के भागी होंगे और इस लोक में तथा परलोक मे आपको भय नहीं होगा ॥ २० ॥

आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था सत्योदया धृतिकूला दयोर्मिः।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव ॥२१॥

हे भारत! आत्मा (जीव) नदी है और वह नदी पुण्य (धर्म) तीर्थ वाली है अर्थात् जिसमें धर्म ही जल है तथा सत्योदया है अर्थात् सत्य (ब्रह्म) से उदय (प्रादुर्भूत) है और धृति (धैर्य) कूल (तट भाग) वाली है तथा दया (कृपा) ऊर्मि (तरङ्ग) वाली है उस नदी में पुण्यकर्मा अर्थात् विरक्त पुरुष स्नान अर्थात् निष्णात (निपुण) याने प्रत्यक् रूप (परमेश्वर) मे मग्न होकर शुद्ध हो जाता है। यहाँ पर पुण्यपद से निर्लोभ को लिया है क्योंकि वैराग्य से परे दूसरा पुण्य नहीं है ॥२१॥

कामक्रोधग्राहवतीं पञ्चेन्द्रियजलां नदीम्।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि सन्तर ॥ २२ ॥

काम क्रोधरूप ग्राह वाली तथा पञ्चज्ञानेन्द्रियरूप जल वाली संसाररूप नदी को धैर्यरूपी नाव को बनाकर उस नाव से जन्म-मरणरूप दुर्ग (किला) को पार करो अर्थात् मोक्ष के लिये यत्न करो ॥२२॥

प्रज्ञावृद्धं धर्मवृद्धं स्वबन्धुं विद्यावृद्धं वयसा चापि वृद्धम्।
कार्याकार्ये पूजयित्वा प्रसाद्य यः संपृच्छेन्न स मुह्येत्कदाचित् ॥२३॥

प्रतिपत्तुं ज्ञातुं शक्ष्यसि चेदिति सम्बन्धः ॥२०॥ आत्मा जीवो नदी। पुण्यं धर्म एव तीर्थं यस्याम्। सत्यं ब्रह्म तस्मादुदयो यस्याः। तस्यां स्नातः निष्णातः प्रत्यग्रूपे मग्नः इत्यर्थः। पूयते शुद्ध्यति कः पुण्यकर्मा पुण्यमपि किं नित्यमलोभ एव वैराग्यान्न परं पुण्यमित्यर्थः ॥ २१ ॥ नदीं संसारनदीम्। जन्मदुर्गाणि

जो बुद्धि से वृद्ध है और धर्म से वृद्ध है तथा अपना बन्धु है और विद्या से वृद्ध है तथा अवस्था से वृद्ध है उसको पूजन द्वारा प्रसन्न करके उससे कर्तव्य और अकर्तव्य के विषय में जो पूछता है वह पुरुष कभी मोह को नहीं प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत्पाणिपादं च चक्षुषा ।

चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च कर्मणा ॥ २४ ॥

धैर्य से शिश्न (लिङ्ग) और उदर (पेट) की रक्षा करे और नेत्र से पाणि पाद (हाथ पैर) की रक्षा करे तथा मन से नेत्र और कान की रक्षा करे और कर्म से मन और वचन की रक्षा करे। तात्पर्य यह हुआ कि काम और भोजन को धैर्य से जीत कर शिश्न और उदर को दोषों से बचावे तथा अच्छी तरह देखकर वस्तु ग्रहण से और देखकर पैर के रखने से पाणिपाद की नेत्र के द्वारा रक्षा करे और नेत्र तथा कान को मन के द्वारा परस्त्री से तथा कुशब्द से पृथक् कर रक्षा करे तथा मन और वचन की संयमरूप कर्म से रक्षा करे ॥२४॥

नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी ।

सत्यं ब्रुवन् गुरवे कर्म कुर्वन्न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात् ॥२५॥

जो ब्राह्मण यथासमय स्नान सन्ध्या में तत्पर रहता है और हमेशा यज्ञोपवीत धारण करता है तथा नित्य वेदाध्ययन करता है और पतित के अन्न का त्याग करता है तथा सत्य वचन बोलता है और गुरु के कार्य को करने वाला है वह ब्रह्मलोक से नहीं गिरता है ॥ २५ ॥

अधीत्य वेदान् परिसंस्तीर्य चाग्नीनिष्ट्वा यज्ञैः पालयित्वा प्रजाश्च ।

सन्तर मोक्षार्थं यतस्वेत्यर्थः ॥ २२ ॥ धृत्येति । कामं अशनां च धैर्येण जित्वा शिश्नोदरं दोषात् रक्षेत् । सम्यग् दृष्ट्वा वस्तुनामादानेन दृष्टिपूते स्थले पदन्यासेन च पाणिपादं चक्षुषा रक्षेत् । चक्षुःश्रोत्रे मनसैव परस्त्र्यादिभ्यः कुशब्देभ्यश्च व्यावर्तनेन रक्षेत् । मनो वाचं च कर्मणा संयमनेन रक्षेत् ॥ २४ ॥ नित्योदकी नित्यं यथाकालं स्नानाचमनपरः ॥ २५ ॥ परिसंस्तीर्य अग्नीन् परिस्तरणैः,

गोब्राह्मणार्थं शस्त्रपूतान्तरात्मा हतः संग्रामे क्षत्रियः स्वर्गमेति ॥२६॥

क्षत्रिय वेदों को पढ़कर अग्निहोत्र को करता हुआ यज्ञों से देवताओं का यजन कर तथा प्रजावर्ग का पालन करके गौ और ब्राह्मण के लिये शस्त्रों से पवित्र, अन्तरात्मा वाला है अर्थात् गौ ब्राह्मण के कार्य को सिद्ध करने के लिये मृत हुआ है और संग्राम में मृत हुआ है वह क्षत्रिय स्वर्ग को जाता है ॥ २६ ॥

वैश्योऽधीत्य ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्च धनैः काले संविभज्याश्रितांश्च ।
त्रेतापूतं धूममाघ्राय पुण्यं प्रेत्य स्वर्गे दिव्यसुखानि भुङ्क्ते ॥२७॥

जो वैश्य वेद और शास्त्र का अध्ययन कर ब्राह्मण क्षत्रिय और आश्रित वर्गों का यथासमय धनादिकों से सत्कार करता हुआ अग्नित्रय के पवित्र धूम का आघ्राण करता है वह मरने पर स्वर्ग में जाकर पवित्र दिव्यलोक के सुखों को भोगता है ॥ २७ ॥

ब्रह्म क्षत्रं वैश्यवर्णं च शूद्रः क्रमेणैतान्न्यायतः पूजयानः ।
तुष्टेष्वेतेष्वव्यथो दग्धपापस्त्यक्त्वा देहं स्वर्गसुखानि भुङ्क्ते ॥२८॥

जो शूद्र ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य की क्रम से यथान्याय पूजा (सेवा) करता है तो वह शूद्र इन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य के प्रसन्न होने पर निष्पाप और व्यथा रहित होकर इस देह का त्याग कर स्वर्ग के सुखों को भोगता है ॥ २८ ॥

चातुर्वर्ण्यस्यैष धर्मस्तवोक्तो हेतुं चानुब्रुवतो मे निबोध ।
क्षात्राद्धर्माद्धीयते पाण्डुपुत्रस्तं त्वं राजन्! राजधर्मे नियुंक्ष्व ॥२९॥

एतेनाग्निहोत्रमुपक्षिपतीति नारायणः, परिसंस्तीर्य वितत्य स्वे स्वे स्थाने आधायेत्यर्थः। ततो यज्ञैरिष्ट्वा शस्त्रपूतः—अन्तरात्मा चित्तं यस्य गोब्राह्मणार्थं मृतः इत्यर्थः, सङ्ग्रामे हतो वा क्षत्रियः ॥२६॥ अधीत्य वेदं शास्त्रमिति शेषः। त्रेता अग्नित्रयं तस्याः पूतं धूमं आघ्राय पुण्यं पावनं प्रेत्य मृत्वा ॥२७॥ क्षात्राद्धर्मात् पृथिवीपालनरूपात् राज्यादिति यावत्। राजधर्मे राज्ये ॥ २९ ॥

हे राजन् ! ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों का धर्म मैंने आपसे कहा। हे राजन ! इन चारों वर्णों के धर्म का कहने का कारण मुझसे आप सुनिये। हे राजन् ! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर राज्य से हीन हैं उनको आप क्षत्रियोचित धर्म में नियुक्त कीजिये ॥ २९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच।

एवमेतद्यथा त्वं मामनुशाससि नित्यदा।
ममापि च मतिः सौम्य ! भवत्येवं यथात्थ माम् ॥ ३० ॥

धृतराष्ट्र विदुर जी से बोले कि हे सौम्य विदुर जी ! आप मुझे नित्य जैसा उपदेश करते हो वह सब सत्य है। हे सौम्य ! मेरी भी बुद्धि आपके उपदेश के अनुसार ही हो जाती है ॥ ३० ॥

सा तु बुद्धिः कृताप्येवं पाण्डवान् प्रति मे सदा।
दुर्योधनं समासाद्य पुनर्विपरिवर्तते ॥ ३१ ॥

और पाण्डवों के प्रति मेरी बुद्धि आपके उपदेश के अनुसार ही सदा रहा करती है। परन्तु दुर्योधन के समीप होने से पुनः विपरीत (बदल) हो जाती है ॥ ३१ ॥

न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं शक्यं भूतेन केनचित्।
दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ॥ ३२ ॥

हे विदुरजी ! भाग्यका उल्लङ्घन करना शक्तिके बाहर कहा है किसी पुरुष से भाग्य का उल्लङ्घन नहीं हो सकता है इसलिये दिष्ट (भाग्य) को ध्रुव (अचल) मानता हूँ और पुरुषार्थ निरर्थक (व्यर्थ) है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये पं० माधवप्रसादव्यासेन कृतायां भाषाटीकायां चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥ [८]

(समाप्तेयं विदुरनीतिः)

मुद्रक—पं० बैकुण्ठनाथभार्गव, आनन्दसागर प्रेस, गायघाट, बनारस १.